Dec. 1973
शीराज़ा
हिन्दी
ललित कला संस्कृति तथा साहित्य अकादमी, जम्मू
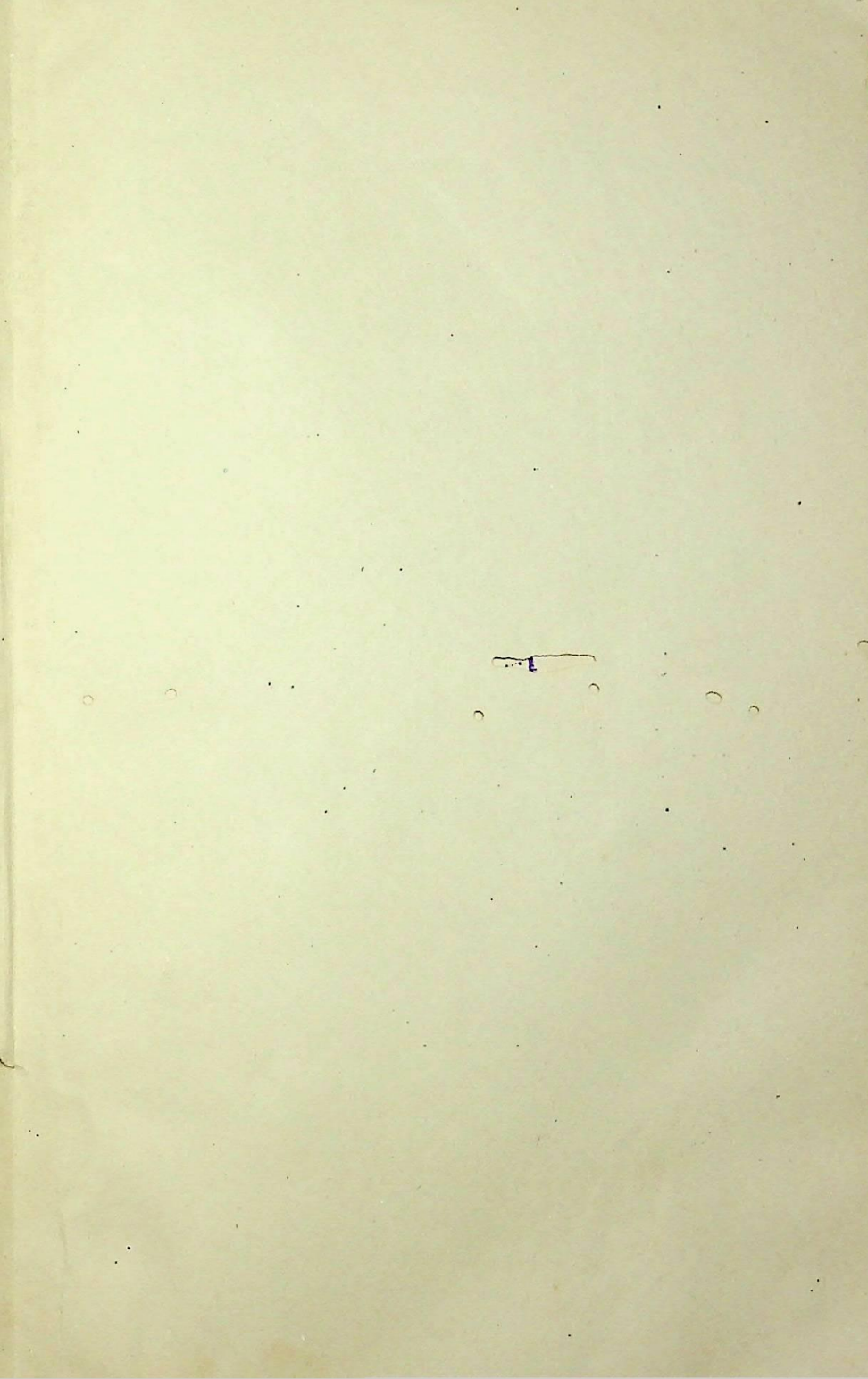
दिसम्बर १९७३

शीराज़ा

हिन्दी

प्रमुख सम्पादक :

मुहम्मद यूसुफ टेंग

सम्पादक :

रमेश मेहता

ललितकला, संस्कृति तथा साहित्य अकादमी, जम्मू-कश्मीर, जम्मू ।

वार्षिक शुल्क : आठ रुपये	एक प्रति : दो रुपये

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार

रमेश मेहता

सम्पादक

शीराज़ा हिन्दी

ललितकला, संस्कृति तथा साहित्य अकादमी, जम्मू-कश्मीर,

नहर मार्ग, जम्मू

फोन : ५०४०

सचिव द्वारा जम्मू व कश्मीर ललितकला, संस्कृति तथा साहित्य अकादमी, जम्मू-कश्मीर के लिए प्रकाशित तथा स्पेसएज़ प्रिण्टर्ज़, महेशी गेट, जम्मू में मुद्रित ।

वर्ष : नौ; अङ्क : तीन	दिसम्बर १९७३

शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : ६] दिसम्बर १९७३ [अङ्क : ३

अनुक्रमणिका

अपनी बात

कविता के मोड़—
कितने, अभी और ?

पिछले तीस वर्षों में जम्मू-कश्मीर में बहने वाली नदियों ने भी सम्भवत: इतने मोड़ नहीं काटे हैं जितने कि इसी अवधि में हिन्दी कविता को काटने पड़े हैं।

राज-दरबारों में पली-बढ़ी कविता कामिनी को सजाने संवारने में रीतिकाल के कवियों ने तो अपना तन-मन लगा ही दिया था, छायावादी कवियों ने भी उसके शृङ्गार में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी थी। पांचवें दशक में एकाएक अज्ञेय के हिन्दी जगत में आगमन से कविता कामिनी के आभूषणों पर गाज गिर पड़ी। अब कविता कामिनी के आभूषणों की ओर ध्यान देने के स्थान पर कवि लोग उसकी देह को ही कंचन के समान उज्ज्वल बनाने के उपकरण जुटाने लगे। अभी यह सभी उपकरण पूरी तरह इकट्ठे भी नहीं किए जा सके थे कि नकेनवादियों ने उसे विवस्त्र करना भी शुरू कर दिया। कुछ आत्मसम्मानी कवियों से कविता कामिनी की यह दुर्दशा देखी न गई और वे अपनी ही मनोग्रन्थियों से पीड़ित होकर कुण्ठित एवं संत्रस्त अनुभव करने लगे। फलत: अपने उन साधकों की पीड़ा को आत्म-

सात करते हुए कविता कामिनी भी घुटन, निराशा, संत्रास ग्रौर कुण्ठा के रंगों में रंग गई। एक लम्बी ग्रवधि तक जब यह क्रम चलता गया तो लोगों को उसका यह रंग उबा देने वाला लगने लगा तथा उन्होंने फिर से, ग्राधुनिक उपकरणों से, उसका साज-सिंगार करने का प्रयत्न किया ग्रौर उसे 'ग्र ज की कविता' कह कर ग्रपने संग महफिलों में घुमाना ग्रारम्भ कर दिया।

ग्रभी सीमा रेखा काफी दूर थी। लोगों को उसका महफिलों में इस प्रकार घूमना भी नहीं भाया ग्रौर वे उसे 'सहज' बना कर प्रस्तुत करने लगे। कविता के 'सहज' होते ही कुछ लोगों ने यह ग्रनुभव करना शुरू किया कि यदि इस 'सहज-सिंगार' को थोड़ा सा ग्रौर निखार दे दिया जाए तो कविता की चमक कई गुणा बढ़ जायेगी। परिणामतः कविता का एक बार फिर नए सिरे से परिमार्जन किया जाने लगा ग्रौर ग्रबकी बार कविता का रूप उसके पुजारियों को 'ताज़ी कविता' का सा मज़ा देने लगा। 'ताज़ी कविता' के वदले हुए स्वरूप को देखकर लोगों को लगा कि यह कविता तो पहले की कविता से नितान्त भिन्न है, नई है। ग्रौर उन्होंने कविता को 'नई कविता' के नाम से पुकारना ग्रारम्भ कर दिया। 'नई कविता' के भक्तों को कविता को 'नई' विशेषण से ग्रलंकृत करने के कारण भारी विरोध का सामना करना पड़ा परन्तु उन्होंने मन-प्राण से कविता के इस नए रूप की रक्षा करने के सुप्रयत्न किए जिससे कविता को 'ग्रकविता' का जामा पहनाने वालों को करारी हार का सामना करना पड़ा। इस भीषण संग्राम के बाद से ग्राज तक कविता 'नई कविता' के रूप में ही प्रचारित तथा प्रतिष्ठित होती रही है।

एक ग्ररसे से चैन की नींद सो रहे 'नई कविता' के पहरेदारों को एक बार फिर खतरे की घंटी की ग्रावाज़ सुनाई देने लगी है क्योंकि कुछ एक कविगण एक लम्बी ग्रवधि तक कविता को 'नई कविता' कहते रहने से ग्रपने को उकताया

हुआ अनुभव करने लगे हैं। उन्हें लगने लगा है कि साहित्यिक आन्दोलनों के क्षेत्र में जड़ता की स्थिति आ गई है तथा कविता ने फिर से एक बन्धी-बन्धाई लीक पर चलना शुरू कर दिया है जो उसके स्वास्थ्य के लिए किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। अपनी शुभेच्छाओं तथा सद्भावना का परिचय देने तथा 'जड़' हो गई कविता को गति प्रदान करने के लिए उन्हें लगा कि बौद्धिकता के इस युग में हमने आज तक 'विचार' की भूमिका को न पहचान कर एक बड़ी भूल कर दी है। इस भूल के सुधार के लिए उन्होंने समकालीन कविता में से चुन-चुन कर ऐसी कविताओं को अपने समर्थन के लिए प्रयुक्त करना शुरू किया जो किसी न किसी 'विचार' के बोझ से आक्रान्त हैं। अतः अन्ततः ये लोग 'विचार-कविता' नाम का एक नया आन्दोलन शुरू करने में सफल हो ही गए लगते हैं क्योंकि आज हर साहित्यिक पत्रिका में 'विचार कविता' पर विचार प्रारम्भ हो गया है तथा कुछ एक पत्रिकाओं में 'विचार कविता' को लेकर वक्तव्यबाज़ी भी आरम्भ हो गई है। इस पर विडम्बना यह है कि 'विचार कविता' का आन्दोलन चलाने वाले भी अन्य सभी 'वादों' के प्रवर्तकों की भांति इसे 'वाद' नहीं मानते हैं।
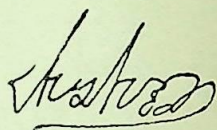
'विचार कविता' के जन्म के साथ ही प्रसूता इस बात से चिन्तित हो उठी है कि इस सन्तान के सभी अङ्ग लग-भग समानता का ही आधार लिए हुए हैं। यही समानता कालान्तर में इसके स्वाभाविक विकास के लिए हानिकर सिद्ध हो सकती है। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि अभी से कविता के एक नए मोड़ की सम्भावना की ओर संकेत कर दिया गया है। यदि बच्ची जी जायेगी तो कहेंगे कि हमने वक्त पर उपचार करवा लिया, बच्ची को बचा लिया। अन्यथा, बच्ची आरम्भ से ही क्षयग्रस्त थी, शुक्र है कि बेचारी इतने दिन तक जी गई।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कविता कामिनी के भाग्य में चैन का सांस लेना अभी नहीं बदा है।

लगभग तीन दशकों से, इस 'गोल-पोस्ट' से उस 'गोल-पोस्ट' के बीच भागती गेंद के समान, हिन्दी कविता आज भी किसी एक 'गोल-पोस्ट' में जाकर विश्राम पा लेने के लिए भटकती फिर रही है। उसका यह दुर्भाग्य रहा है कि वह सदैव 'डी' के भीतर पहुँचते ही, एक बार फिर, मैदान की ओर धकेल दी जाती है। परिणामस्वरूप हर बार उस की भटकन पहले से भी कुछ अधिक बढ़ जाती है।

हिन्दी कविता के भाग्य में अभी और कितने मोड़ हैं, यह अभी देखना है......।

हमें खेद है कि यथासमय उपयुक्त आकार के कागज़ के अनुपलब्ध होने के कारण 'शीराज़ा' हिन्दी का यह अंक डिमाई आकार में आपके हाथों में पहुँच रहा है।

—सम्पादक

भद्रवाह की हिन्दु जातियों के उपनाम

—प्रियतम कृष्ण कौल

भद्रवाह में हिन्दु जातियों के उपनामों का अध्ययन बड़ा रोचक है, और इससे इस क्षेत्र के विगत लोक जीवन पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

भारत में जात-पात का विकास व्यवसाय से प्रारम्भ हो कर जन्म से सम्बन्धित हुआ माना जाता है। पहले तो जातियां चार ही थीं जिन की संख्या बढ़ते-बढ़ते आज हज़ारों तक पहुँच गई है। जातियों-उप-जातियों की इस निरन्तर वृद्धि के कारण चाहे जो भी रहे हों, और जितने भी रहे हों पर उन में से कुछ यह भी रहे हैं कि किसी उपनाम, दोष, त्रुटि, व्यक्तिगत, पारिवारिक अथवा सामाजिक घटना से सम्बंधित कोई नाम किसी परिवार से संलग्न कर दिया जाता रहा है, और फिर इसी नाम को कालान्तर में विवश हो कर सम्बन्धित परिवार के सदस्य अपनी उप-जाति के रूप में ग्रहण कर लेते रहे हैं। अभी कुछ ही वर्ष पहले की बात है :—एक व्यक्ति बड़ी झगड़ालू प्रकृति का था। लोगों ने उस के नाम के साथ 'गुण्डा' उपनाम जोड़ दिया। आज उस व्यक्ति को मरे केवल पंद्रह वर्ष ही हुए हैं परन्तु उस के परिवार के सब सदस्यों को "गुण्डे" उपनाम से ही पुकारा जाता है, और परिवार के सदस्यों को इस उपनाम से पुकारे जाने में कोई बुराई नहीं जंचती। कश्मीर

की एक कहावत प्रसिद्ध है। किसी परिवार के आंगन में शहतूत का वृक्ष था। लोगों ने परिवार का नाम 'तुल' डाल दिया। (कश्मीरी में शहतूत के वृक्ष को तुल कहते हैं)। उक्त परिवार के सदस्यों को 'तुल' का उपनाम सुन कर बड़ा क्रोध आता, इस कारण एक दिन उन्होंने इस पेड़ को ही काट दिया। पर तना अब भी बचा रहा। अतः उनके जान पहचान के लोग उन्हें 'मोण्ड' (कश्मीरी में मोण्ड=तना) कहने लगे। इस उपनाम से पिंड छुड़ाने के लिए परिवार के सदस्यों ने तने को जड़ों समेत खोद कर दूर फेंक दिया। पर इस प्रकार आँगन में जो गढ़ा बन गया उसके कारण परिवार खोड्ड (कश्मीरी में खोड्ड=गढ़ा) कहा जाने लगा। कश्मीरी में इसी प्रकार के कई उपजाति सूचक नाम हमें मिलते हैं। जैसे बेलचा, ऊंट, प्याला, कार, हस्तु (हाथी) आदि। इन सब की पृष्ठभूमि में रोचक घटनाएं प्रतीत होती हैं।

भद्रवाह की हिन्दु जातियों के जो उपनाम हमें मिलते हैं उनके पीछे भी विशेष पारिवारिक घटनाएं, वैवाहिक सम्बन्ध, व्यवसाय, सामाजिक गिरावट आदि ही कारण रहे हैं। इन नामों का उनकी वास्तविक जाति (ब्राह्मण, क्षत्री, आदि) से कोई भी मेल नहीं।

इस क्षेत्र में भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तर्गत आने वाले विविध उपनाम इस प्रकार हैं :–

१ ब्राह्मण :

(i) डिढान	(v) डूलाडे
(ii) दोंत्थान	(vi) संगान
(iii) शानु	(vii) लेचरान
(iv) कोप्पान	

२ ठाकुर; राजपूत :–

(i) छव्वान	(xi) कुण्ढान
(ii) ठोल्लान	(xii) रिलुखान
(iii) नेंगान	(xiii) खेस्सान
(iv) मिघान	(xiv) घिशरान
(v) पोचरान	(xv) डिडान
(vi) जित्तान	(xvi) थम्मान

(vii) फराशान (xvii) रंडान
(viii) नेंगलान (xviii) गाडान
(ix) खोजान (xix) फेकुलान
(x) पुड़ान (xx) पोटलान
(xxi) जोनान

३ शूद्र :– (i) डलेनान (iii) संगान
(ii) टिलगान

उपर्युक्त विवरण पर ध्यान देने से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं :-

(क) प्राय: सब उपनामों में 'आन' प्रत्यय जुड़ा हुआ है। (इस का कारण स्पष्ट नहीं, परन्तु इतना अवश्य है कि यह प्रत्यय केवल इस क्षेत्र की उपजातियों में ही प्रयुक्त हुआ है, पास-पड़ोस में और कहीं नहीं)

(ख) भद्रवाह के लोक जीवन में ब्राह्मण, ठाकुर और राजपूत तो सांझीदार रहे हैं परन्तु वैश्य वर्ग नहीं। सम्भवत: वह देर से व्यापार करने के लिए, इस क्षेत्र में आ बसे हों। इसी कारण उन्हें अभी तक कोई ऐसा उपनाम न मिला जिसे उपर्युक्त सूची में समाविष्ट किया जा सके।

(ग) कुछ ठाकुर-राजपूत उपनाम अपने पुराने नामों को अभी भी आंशिक रूप में बनाए हुए हैं। केवल उन्हों ने 'आन' प्रत्यय साथ में जोड़ लिया है। जैसे :–

छव्वान—चौहान से ठौल्लान—राठोर से

(घ) कुछ उपनाम पिता से सम्बन्धित न रह कर माता (किसी विशिष्ट स्थान, जाति, कुल या नाम की स्त्री) से सम्बन्धित हो गए हैं। जैसे :–

(i) नैंगान :—नागा स्त्री से उत्पन्न सन्तति।
(ii) खेस्सान :—खस्स (खष) स्त्री से उत्पन्न सन्तति।
(iii) गाडान :—गादी ग्राम से लाई स्त्री की संतति।

(iv) फेकुलान :—माता का नाम फांकी था अतः संतति फेकुलान कहलाए ।

(v) थम्मान :—किसी विशिष्ट अवस्था में थम्म (खम्भे) से विवाहित स्त्री की सन्तति ।

(vi) कुण्ढान :—कुण्डी ग्राम से विवाहित वधू की संतति ।

(ङ) कुछ उपनाम घटना विशेष से सम्बन्धित हो गए हैं :-

(i) जित्तान :—लड़ाई में जीत हो जाने के कारण परिवार जित्तान कहलाया ।

(ii) रंडान :—किसी विधवा के बेटे की सन्तति के कारण ।

(iii) खोजान :—किसी मुसलमान परिवार की भूमि छीन लेने के कारण ।

(iv) घिशरान :—किसी सामाजिक पतन अथवा त्रुटि के कारण । (भद्रवाही में घिशरोड़ का अर्थ फिसलाहट है) ।

(v) डिढान :– कुटुम्ब में किसी का पेट बड़ा था । अतः परिवार डिढान कहलाया (भद्र० डिढ—पेट)

(च) कुछ जातियों के नाम व्यवसाय के साथ भी जुड़े हैं। जैसे :—

(i) फराशान :—फराशों का काम करने वाले ।

(ii) टिलखान :—बढ़ई का काम करने वाले ।

(iii) जोनान :—गीत, कथा, गाथा, आख्यान आदि गाने सुनाने वाले ।

(iv) डलेनान :—'ग्रहनी' (किसी इष्ट देव के प्रभाव में आकर कांपना, नाचना और फिर किसी भविष्यवाणी या रोग-शोक के कारण को बतलाना । इस प्रकार की प्रक्रिया पहाड़ के कई देवालयों में होती रही है) देने वाले ।

परन्तु कुछ एक जातियों के उपनामों के कारण फिर भी

अस्पष्ट ही रह जाते हैं। जैसे :–– पोटलान, पुडान, पोचरान, डिडान, दोन्थान, कोप्पान, डलाड़े, संगान, मिघान आदि।

भद्रवाह में हमें कुछ उपहासपूर्ण, निंदासूचक अथवा जड़ वाले नाम भी मिलते हैं जो उपनाम के रूप में तो प्रयुक्त हुए हैं, पर उपजाति के नाम के रूप में नहीं। क्योंकि यह उपनाम किसी व्यक्ति विशेष या उसकी पत्नी तक ही सीमित रहे, उस व्यक्ति के परिवार से उन्हें संलग्न नहीं किया गया। पर एक बार जब किसी व्यक्ति को कोई नाम दे दिया गया तो फिर सारे क्षेत्र में आजीवन वह उसी नाम से पुकारा जाता रहा। यहां तक कि व्यक्ति का विवाह हो जाने पर बेचारी पत्नी को भी अपने पति का उपहासपूर्ण उपनाम मिला। इलाका केलाड के ऐसे ही कुछ रोचक उपनाम इस प्रकार हैं :—

(i) शिगोड़ो (पति) शिगोड़ो (पत्नी)
(ii) चमत्कार (पति) चमत्कारन (पत्नी)
(iii) किजोनू
(iv) दड़मी (पति) दड़गन (पत्नी)
(v) .... लम्मन (स्त्री विशेष)
(ui) ढलड़िया
vii) चुग्गी

इन सब लोगों के अतिरिक्त अन्य जातियों के और लोग भी भद्रवाह की घाटी में बसे हैं परन्तु वह अपनी अपनी जाति के उपनाम को मौलिकता बनाए हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह दूसरों को अच्छा बुरा नाम देने और दूसरों द्वारा अपने ऊपर इस प्रकार के निंदा और उपहासपूर्ण नाम थोपे जाने की प्रवृत्ति से दूर ही रहे हैं।

[मोहल्ला सराफ, भद्रवाह]

इतिहास के हाशिये से

—मोहन निराश

इन बैरलों में जो पेट्रोल था
उस से हम ने अपने घर जला दिये। और
अब हम इन खाली पीपों में रहने लगे हैं।
इन को अन्दर से हम ने पुटीन और सफ़ेदी पोत दी है,
ताकि हमारी सड़न से इस टीन में ज़ंग न लगने पाये
छेद न पड़ें और हम
इन छेदों से लीक न हो जायें।
हम इस सफेदी को ही रौशनी मानने लगे हैं।
और हम इस रौशनी पर
अपने नाखूनों से एक दूसरे के चित्र बनाते हैं
अपना-अपना हस्ताक्षर करते हैं
अपने दांतों से अपना जिस्म कहीं पर काट लेते हैं
और अपनी उंगली से अपने खून का सूरज अंकित करते हैं।
खड़े-खड़े नींद लेते-लेते
एक दूसरे पर थूकते हैं
और पीपे को पहलू से लिटा कर
अन्दर धमा-चौकड़ी मचाते हैं कि
उसे लुढ़का कर किसी अज्ञात सफर पर निकल पड़ते हैं
निरुद्देश्य।

[रेडियो कश्मीर, श्रीनगर]

वह क्षण नहीं आया

डा० अयूब 'प्रेमी'

युवक-युवतियां जब निकट सम्पर्क में आते हैं तो उनके शरीर और मन में एक स्वाभाविक कशिश होती है जिसे हम दुर्बलता भी कह सकते हैं। रेखा उसकी सहपाठिन थी। उसने प्राय: युवकों को अपनी सुन्दर अंजलियों में उदासी भर भर कर बांटी थी। हां एक आनन्द ही ऐसा भाग्यशाली था जिसे उसने मुट्ठी भर धूप का उजास भेंट किया था। जब यह वरदान उसे मिला था तो उसने रेखा की मुस्कान में गुलाब की ओस भीगी पंखुड़ी हिलती हुई महसूस की थी। उन्हीं दिनों कालेज में 'आषाढ़ का एक दिन' खेलने का निश्चय किया गया था। बातों ही बातों में आनन्द ने रेखा से कहा—

"रेखा तुम हीरोइन की भूमिका ले लो।"

"और तुम ?"

"मैं कालिदास की भूमिका ले लूंगा।"

"तब तो बड़ा मज़ा आयेगा।"

एक क्षण के लिए रेखा की रुपहली हंसी से वातावरण में उजास मुखरित हुआ।

तब चलो न आज से ही रिहर्सल करते हैं।

"आज ही से ?"

"क्यों ? क्या आज तुम्हें फुर्सत नहीं है ?"

"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं।"

दूसरे क्षण रेखा मौन रही। खामोशी का दर्पण सामने हो, जिसमें एक देवता की अधूरी तस्वीर का अक्स उभर कर ओझल हो गया हो; कुछ वैसे ही आनन्द ने उसके चेहरे पर अस्पष्टता का रंग फैलते हुए देखा। जैसे वह सोच रही थी—लोग उसके पीछे क्यों पड़ते हैं ? उस से मिलने का आग्रह क्यों करते हैं ? शायद वह सुन्दर और रूपवती है। तभी रूप के लालची लोगों से उसे घृणा होने लगती शायद वह किसी कवि की दर्द-धोयी कामना बनना चाहती थी। कालिदास तो उसका प्रिय कवि था। काश वह कालिदास की प्रेमिका होती। लेकिन कहां आनन्द और कहां कालिदास ! क्या वह उसे कालिदास बना सकती है ? क्या वह उसमें वैसा ही सौन्दर्य-बोध जगा सकती है ?

"तुम क्या सोचने लगीं ?"

"कुछ नहीं, कुछ भी तो नहीं।"

"फिर भी तो ?"

"यही कि अभी नहीं।"

"क्यों ?......क्या हो गया है तुम्हें ?"

आनन्द, अभी न तो तुम कालिदास की भूमिका निभा सकोगे और न मैं हीरोइन की। इसके लिए साधना चाहिए बहुत बड़ी साधना। दूसरे आज मेरी तबियत ठीक नहीं है। कल तुम से इस सम्बन्ध में बातें करूंगी।

"कल जमुना के किनारे, उस टीले पर। चार बजे शामको।"

"हां जरूर आऊंगी।"

"अगर नहीं आईं तो मुझे मर्मान्तक दुख होगा। समझीं ?"

"अच्छा भई समझी।"

× × ×

दूसरे दिन आनन्द ठीक चार बजे पहुँच गया। रेखा नहीं थी। उसने सोचा रेखा दर्पण के सामने खड़ी होगी। उसके इर्द-गिर्द साड़ियां बिखरी पड़ी होंगी। फिर रेखा एक के बाद दूसरी साड़ी बदलती गई। मेकअप करके चेहरे को दर्पण में विभिन्न कोणों से घुमा घुमा कर देखा। अब वह चलने को ही थी कि शीला आगई.........................।

उसे दूर तक कोई नहीं दिखाई दिया। वह देर तक ऊंचे ऊंचे वृक्षों की चोटी पर लरजती धूप को देखता रहा। फिर उसने डूबते सूरज को टापुओं के पीछे फिसलते हुए देखा। रेखा नहीं आई। वह बड़ी देर तक अन्धेरे के थर्राने की आवाज सुनता रहा लेकिन रेखा नहीं आई।

तब उसकी आंखों के सामने कल्पना का दृश्य ही सत्य बना था।.................हां तो फिर शीला ने सजधज कर तैयार सहेली को नीचे से ऊपर तक देखा और पूछा होगा—

"कहां जा रही हो दुल्हन बन कर! किस पर बिजली गिराने चली हो।" उसी क्षण वे एक दूसरे के आलिंगन-पाश में हंसती हुई बंध गईं। उसे महसूस हुआ कि रेखा ने सारी बात खोल दी होगी—

"शीला, यह बताओ, आनन्द इतनी लड़कियों के होते हुए भी मुझे ही क्यों चाहता है?"

"शीला ने कहा यही तो दुर्भाग्य है।"

"किस का?"

"अरे! मेरा और किसका?"

"हट पगली। क्या तू सचमुच जलने लगी है?"

"जलें हमारे दुश्मन। हम तुम दोनों एक साथ रहती हैं। एक साथ पढ़ती हैं। एक साथ खेलती हैं तो क्या एक साथ प्यार का फल नहीं भोग सकतीं!"

"तू तो बहुत उदार बन गई है। लेकिन क्या आनन्द मान जायगा ?"

"हां सचमुच मान जायगा क्योंकि जब भी हम दोनों साथ होती हैं तो वह जानबूझ कर हमारे सामने आजाता है लेकिन बातें नहीं करता। सिर्फ देखता रहता है, कभी मेरी तरफ कभी तेरी तरफ। लेकिन जब तुम कालेज नहीं आती हो तो मेरे पास आकर तेरे बारे में पूछता है और ढेर सारी बातें करता है।"

"तू सच कह रही है या मज़ाक कर रही है ?"

"तेरी कसम सच कह रही हूँ।"

अच्छा ! तो यही कारण है कि रेखा नहीं आई। रात उतर कर गहराने लगी। वह सन्नाटे का अहसास करने लगा। उसे लगा कि इस शहर की रात जो जगमगाया करती थी अब फिर कभी नहीं जगमगायेगी। सुबह की किरणें उसकी खिड़की में से उतर कर तकियों पर सुनहरी रेखा नहीं खींचेंगी। उसे वह दिन याद आया जब शाम को रेखा के साथ-साथ एक दम सटा हुआ बातें करता इसी खामोश सड़क पर चला जा रहा था। उस समय कितने ही अजनबी शहरों में घूमने की कामनाएं जाग उठी थीं लेकिन आज के संदर्भ में वह दृश्य एक हलका सा यथार्थ बनकर मर गया। जमुना की घाटी का वह दृश्य भी एक क्षण के लिए नजरों में थिरकने लगा जब भावावेश में रेखा ने कहा था—

"मैं तेरे लिए, तेरी महकती भावना की घाटियों में घूमती हुई थक कर तेरे प्यार की घनी छांह में सो जाऊंगी।"

"तो रेखा आओ हम बैठ कर इसी क्षण यह प्रतिज्ञा करें कि हम सदा एक दूसरे के रहेंगे।"

"लेकिन आनन्द अभी वह क्षण नहीं आया है।"

"तो क्या हम स्थायी सम्बन्ध बनाने के लिए उस एक क्षण के गुलाम बने रहेंगे जो अभी नहीं आया है ?"

"हां आनन्द हम स्वतंत्र कब हैं ? हमें एक क्षण के लिए

अनन्त क्षणों की धारा में बहना पड़ता है। वह एक क्षण युगों के क्षणों को बांध सकता है। वही शक्तिशाली और निर्णायक क्षण है, जो अभी नहीं आया है।

× × ×

कई दिन बाद रेखा कालेज आई थी। चेहरे से अस्वस्थ सी। शीला उसके साथ थी। उसे देखकर आनन्द को लगा जैसे ज़हरीले व्यंग्य के साथ मुस्कराने लगी है। वह रेखा के पास नहीं जा सका। उसने उसकी आंखों में देखा जैसे झील में कोई हंसिनी कुलबुलाती सी तैर गई है। उसके मन में प्रश्न उठा—"क्या झुकी हुई पलकों से घिरी उन आंखों में दर्द का साया उसी ने डाला है? क्या शीला का ज़हरीला प्रसंग कल्पना नहीं सत्य है?"

घर लौटने पर वह बड़ा दुखी हुआ। उसने रेखा से क्यों नहीं पूछा कि वह कौन सी विवशता थी जिसने उसे आने नहीं दिया था। वह कौन सा दुख है जो उसे साल रहा है? यही सोचते-सोचते रात के ११ बज गये। मन में तनाव भर गया। वह रेखा से मिलने चल पड़ा। हॉस्टल का दरवाज़ा बन्द था, उसने चार-दीवारी पर नज़र डाली। वहां कांटेदार तारों की बाड़ लगी हुई थी। उसने चढ़ने का साहस किया। कई कांटे उसकी हथेलियों और जांघों में चुभ गये। वह जैसे ही अहाते में कूदा तो पीछे से उसका कुर्ता फट गया। वह सोचने लगा कि ऐसी दशा में क्या उसे रेखा से मिलना चाहिए? भावना ने निर्णय कर दिया कि साहसिकता ही प्रेम की कसौटी है। नारी पुरुष से यही आशा करती है कि उस का प्रेमी बहादुर हो और कोई भी संकट मोल ले सके। जब वह आगे बढ़ा तो उसे खुशी हो रही थी कि ऐसा निर्णय लेकर उसका मानसिक तनाव खत्म हो गया है क्योंकि वह अपने तन-मन में हल्कापन महसूस कर रहा था। लेकिन अन्दर का दरवाज़ा भी बंद था रेखा का कमरा दूसरी मंज़िल में था। उसके कमरे के पीछे के पाइप पर उसकी नज़र अटक गई जिसके साथ ही रेखा की खुली हुई खिड़की थी। वह ऊपर पहुँच गया। रेखा सो रही थी। टेबुललैम्प का हल्का उजाला था। वह देर तक खड़ा खड़ा उसे ताकता रहा, फिर उसने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। रेखा चौंककर

जाग गई। वह पहले भयभीत हुई लेकिन सावधान होते ही उसने आनन्द को पहचान लिया—

"अरे तुम ! इस समय यहां कैसे ? यह तुम्हारा क्या हाल है ?"

"मैं असल में रेखा तुम से..............."

"क्या बदतमीजी है ? मुझे तुम से यह आशा नहीं थी कि तुम इतने गिर जाओगे।"

"रेखा प्लीज़ ! तुम मुझे गलत मत समझो। मैं तुम्हें......।"

"अच्छा तुम इसी समय चले जाओ वर्ना.........।"

"रेखा मेरी भी तो सुनो। मैं...............।"

"पहले आप यहां से तशरीफ ले जाइये और याद रखिये कि अब मुझसे मिलने की कोशिश न करें। मैं आपको बिल्कुल नहीं चाहती। मुझे ऐसा मजनूं नहीं चाहिए।"

उसका सुनहरा सपना टूट कर बिखर गया। आधी रात का अंधेरा सिसकने लगा था। आनन्द को लगा जैसे उसका आकार घटता जा रहा है। वह बौना हो गया है। जो विस्तार उसके शरीर से प्रत्येक दिशा में फूट पड़ा था वह सिमट कर दबाव का अनुभव कर रहा था। उसे लगा कि तारों भरा आकाश टूट कर चूर चूर हो जायगा।

× × ×

लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ क्योंकि रेखा जितनी आसानी से दूर हो जाती उतनी ही आसानी से उसके पास भी पहुँच जाती। कुछ दिन बाद रेखा स्वयं उसे मनाने झील के किनारे उससे मिली। रेखा ने कहा—

"क्या तुम झील में पड़ते हुए अपने साये को देख रहे हो ? लहरों के शांत होने पर अपना बिम्ब बना रहा है। शाम के सूरज की किरणें सितार की तरह झनकार पैदा कर रही हैं। क्या तुम इन्हें सुन सकते हो ? इस मौसम में एक स्वर व्याप गया है जो हम

दोनों के गीत का है। जो अभी तक हमारे मुखों से नहीं निकला। वह हम दोनों के मन में ही गूंज रहा है। क्या तुम इसका अर्थ समझ रहे हो?"

"नहीं रेखा मुझे कुछ नहीं सुनाई देता कुछ भी समझ में नहीं आता। वैसे इतने आते जाते रास्ते हैं लेकिन सारी सीमाएं इनके लिए बेअसर हो गई हैं। ये फल-फूलों से लदे झूमते हुए वृक्ष, ये लहराती लचकती लताएं और सुगन्ध से मदहोश भ्रमरों का गुंजन– सभी दृश्य शब्द जाल हैं, सिर्फ अर्थ हीन और खोखले।"

"लेकिन आनन्द, पिछले पहर की खामोशी में जो दिल के द्वार पर दस्तक होती है क्या तुम उसे नहीं सुनते? ढलती हुई रात में एक आवाज़ अहसासों से टकराती है क्या तुम उसे महसूस नहीं करते। जब अन्दर ही अन्दर टूटने और बिखरने की ऋतु-क्रिया होने लगती है। तब क्या तुम अपने को बचा पाते हो? उस समय व्यक्ति मर जाता है और उसमें कोई और ही जी उठता है। क्या वह क्षण सत्य नहीं है?"

आनन्द ने उसी क्षण रेखा की आंखों में झांका। रेखा लजा गई। वह आनन्द के और निकट सिमट आई थी। आनन्द के शरीर से आग की लपट बार बार टकरा रही थी। तभी उसे न जाने क्या हुआ। वह पिघलती बर्फ को छोड़कर उठ खड़ा हुआ। शायद वह क्षण अभी नहीं आया था।

[जे—६, जवाहर नगर, श्रीनगर]

अल्बम के चार पृष्ठ

—ज्योतीश्वर 'पथिक'

वितस्ता की सुबह

पर्वतों की ओट से
झांकते सूर्य की छवि
मचलती उर्मियां
रींगती नाव का गीत—
हे मेरे मन मीत
आए नहीं तुम
रात गई बीत—
हो गई है भोर
चारों ओर—
पक्षियों का शोर;
बह रही—
मौन—
वितस्ता गंभीर;
जान सका कौन, मगर,
विरहिणी की पीर !

गुलमर्ग की दोपहर

महक रहे फूल,
झूम रहे पेड़
खुली - खुली धूप
मस्त - मस्त रूप !
जहां कभी गूंजी थी—
'जूनी'* की आवाज़—
बार - बार
आजा मेरे
फूलों के बांके राजकुमार !
फ़िज़ाओं में खोए खोए
आज भी वे गीत—
हे मेरे मन मीत......!

●

झील डल की शाम

दूर तक फैली हुई—
झील............

थके हुए सूर्य की
धीमी - धीमी चाल
पर्वतों के पानी में
झुके - झुके भाल।

लहरों से लहरें
हैं जूझती अनंत;
एक लम्बे सफ़र का—
थका हुआ अंत !
और
तुम.........!
चारचिनारी पर

---

*कश्मीर की प्रसिद्ध कवयित्री हब्बा खातून का एक नाम।

वादा करके नहीं ग्राए
किरणों के साथ साथ
डूब गए गीत
वागे - निशात* के
फूलों जैसे मीत !

●

हाउस-बोट की रात

पानी में तैरती है नाव
ग्रौर
इसकी छत पर बैठा हुग्रा मैं
सोच रहा हूँ—
(सिग्रेट के छल्लों के ताल पर)
कि तुम
एक स्वप्न तो नहीं,
जिसकी टिमटिमाती छवि
सुबह के जन्म पर
दम तोड़ देती है !

नहीं - नही
फिर ख्याल ग्राता है—
तुम मेरे पास बैठी हो,
पूरे चांद की तरह,
तुम्हारा गोल गोल चेहरा
मेरी ग्रांखों में घूम जाता है
ग्रौर मैं
तारों की बारात सरीखी
तैरती नौकाग्रों में खो जाता हूं
क्योंकि

---

*कश्मीरी कवि महजूर के गीत—'बागे-निशात के गुलो' का मुखड़ा।

आसमान का चांद
मुझे मद्धम और मरियल
महसूस होता है।

सिग्रेट का एक और कश
एक नया ख्वाब—
सुबह के तारे की
पहली किरण !
क्या नाम है तुम्हारा ?
ज़रा सुनूं तो !

[११५, नया हस्पताल मार्ग, जम्मू]

एक तेरी ही नहीं सुनसान राहें और भी हैं।
कल सुबह की इंतजारी में निगाहें और भी हैं॥

—धर्मवीर भारती

हास्य-व्यंग्य

नये ख़त पुराने ख़त

डा० संसार चन्द्र

ख़त लिखने वाले के दिल का फोटो है और ख़त लेखन मानसिक मिलन। खत भेजना खुद को भेजना है और ख़त का पाना ख़त के प्रेषक को पाना है। ख़तों की किताबत का यह दस्तूर कब शुरू हुआ होगा, यह बताना मेरे बल-बूते की बात नहीं पर इतना ज़रूर कह सकता हूं कि सबसे पहले पैगाम रसानी का यह नेक काम आंखों ने किया होगा—

पैगाम दिया है तो कभी पैगाम लिया है
आंखों से मुहब्बत में बड़ा काम लिया है

पुराने ख़त कैसे रहे होंगे—यह सोचते ही मुझे याद आता है कालिदास का भेजा हुआ ख़त—मेघदूत जिसका विषय आज भी वैसा ही ताज़ा और दिलफरेब है। दमयन्ती के ख़त के मजमून का तो पता नहीं। उसका पत्र-वाहक राजहंस सचमुच ही राज़दां निकला और ख़त का राज़ आज तक राज़ बना हुआ है परन्तु पद्मावती का हीरामन तोता बड़ा शोख था उसने उसके पैग़ाम का वह ढोल पीटा कि वह बेचारी जायसी के हाथों जहमत का शिकार हो गई। फिर बारी आई कबूतर की। उसने न जाने

कितने दिलों की धड़कन को अपने पंखों की परवाज़ पर ढोया। कुत्ते के गले की जेवड़ी में संदेश भेजने की प्रथा भी पुरानी है। आखिर पक्षियों, जानवरों आदि के द्वारा जब काम न चला, तभी आदम जात को यह सरदर्द मोल लेना पड़ा। सर्वप्रथम ब्राह्मण, नाई, मालिन, पनिहारिन, तंबोलन आदि को यह काम सौंपा गया। मगर ख़त भेजने का यह तरीका भी खतरे से खाली नहीं था। कई बार पत्रवाहक ही हीरो बन जाता। दूतिका नायक की आगोश का मजा लूटती और बेचारी नायिका बिरह के शीत से ठिठुरती रहती। एक आशिक मियां तो चिट्ठीरसां के हाथों बुरी तरह लुट गये थे। विदेश से आशिक महोदय महबूबा को रोज़ ख़त लिखते थे और चिट्ठीरसां रोज वह ख़त लेकर उस महबूबा के दरे-दौलत पर हाजिर होता था नतीजा यह निकला कि महबूबा चिट्ठी-रसां पर ही निसार हो गई। पुराने ख़तों में मामला कुछ नाज़ुक ही रहता था क्योंकि कई बार ख़त के जवाब में महबूबा के अब्बा शरीफ ही नमूदार हो जाते थे :—

ख़त लिखा था उन्हें बड़े चाव से,
वो देखो उनके अब्बा आ रहे हैं जवाब में

एक पुराने ख़त का किस्सा मुझे याद आ रहा है। कोई खूबसूरत नौजवान किसी वजीर के रास्ते का कांटा था। उसने उसे ख़त देकर दूर अपने घर भेजा। वह थका-हारा दोपहर को वहां पहुँचा और बाग में विश्राम के लिये सो गया। भगवान् की करनी देखिये। उसी वजीर की सुन्दर कन्या जो वहां बाग में घूम रही थी सोये नौजवान पर लट्टू हो गई। उसकी जेब से ख़त निकाल कर पढ़ लिया। जिसमें लिखा था कि इस नौजवान को विष दे दो। वजीर की पुत्री ने झट तिनका उठाया और आंख के काजल से विष का विषया बना दिया। उसका अपना नाम ही विषया था उनकी शादी हो गई। वजीर के रास्ते का कांटा उसके दिल का कांटा बन गया।

पुराने ज़माने में कई बार कागज-कलम मुयस्सर न होने के कारण मौखिक पत्र भी चलते थे परन्तु इस प्रकार के पत्र व्यवहार में

कासिद से विशेष खबरदार रहना पड़ता था। सुनते हैं कि एक बार एक प्रेमिका ने अपने प्रेमी के लिये बड़े चाव से खाना तैयार कर के किसी दूती के हाथों भेजा। दूती कहीं हेराफेरी न कर ले इसलिये उसने दूती से यह भी कहला भेजा :

चौदहवीं का चांद रात तारों भरी

दूती इस संकेत को कहां समझती। उसने परसी हुई थाली में से अपना मार्जन खींच लिया। नायक ने खाना तो खा लिया परन्तु जब संदेश सुना तो उसने इस प्रकार संदेश लौटाया :

सातवीं की रात तारा कोई कोई

माजरा यह था कि नायिका ने १४ परांठे और वासमती के भरे पुलाव की थाली भेजी थी परन्तु नायक के पास ७ परांठे और बहुत थोड़ा पुलाव पहुँचा था।

सब से पुराना ख़त जो मुझे याद है वह है मेरे बचपन का। मेरे चचाजान लाहौर में रहते थे और मैं अपने गांवके स्कूल में पढ़ता था। जब चचाजान गांव आये तो मैंने उन्हें स्कूल के पते पर ही ख़त डालने का इसरार किया क्योंकि मेरे एक क्लास फैलो को जब उसके सूबेदार पिता का पत्र क्लास में चपड़ासी लाकर देता था तब वह खुद को हीरो समझने लगता था। एक दिन चचाजान का पत्र भी वैसे ही चपड़ासी लेकर आया। मास्टर जी ने मेरा नाम पुकारा तो मैं खत लेने के लिये इस अन्दाज से आगे बढ़ा गोया कोई ट्रॉफी लेने जा रहा हूं। उस दिन मेरे खूब ठाठ थे। यार दोस्तों से घिरा-घिरा मैं ख़त को बार-बार पढ़ता था। ख़त में लिखा था :

"बरखुरदार नूरेचश्म तूल उमर राहते जान अजीजुल कदर बेटा"। रिसेस में मैंने स्कूल के डाकखाने से दो पैसे का कार्ड खरीदा और लिखने बैठ गया :

"बरखुरदार नूरेचश्म तूल उमर राहते जान अजीजुलकदर चाचा जी बाद उमरदराजी के वाज्या हो..........." इस ख़त ने क्या-क्या गुल खिलाये, यह सब यहां बताना सम्भव नहीं है।

मुझे अपनी शादी के जमाने के दो ख़त अब भी याद हैं—एक जो मेरे ससुराल वालों ने "साहा चिट्ठी" के रूप में मेरे पिता जी को लिखा था। दूसरा जो मेरे पिता जी ने वैडिंग-कार्ड के रूप में छपवाया था। पहला ख़त इस प्रकार था :

"स्वस्ति सिरी गणेशाय नम:

लाला किरपाराम जी को मुंशीराम का राम राम बाचना। परम प्रभु की किरपा से माघ सुदी सत्तमी सम्मत् १९६५ प्रविष्टे १२ को मेरी पुत्री का आप के सुपुत्र से ब्याह पक्का होया है। आप इस मुहूरत पर मेरी गरीबी और कमसिनी को ध्यान में रखते हुए बरात लेकर यहां पधारें।

तावेदार मुंशीराम
खास बकल्लम खुद"

मेरे विवाह पर जो दावतनामा छपा था उसके एक सिरे पर हनुमान का दूसरे पर गणेश का और बीच में ॐ का चिह्न था उसके नीचे लिखा था :

"भगतों के जिस भाव से आते हैं भगवान
उसी भाव से आप भी दरसन दें सिरीमान"

पुराने ख़तों का कुछ न पूछिये कुछ खतों पर यह भी लिखा मिलता था :—

चल चल लिफाफ़े कबूतर की चाल
जल्दी से ला मेरे दिलबर का हाल

कुछ ऐसे लहजे भी हुआ करते थे :

शीशी भरी गुलाब की पत्थर पै तोड़ दूंगी।
ख़त न आया आप का तो सर को फोड़ लूंगी॥

पुराने सभी लोग न तो ख़त लिखना जानते थे और न ही पढ़ना। लिखवाने वाला लिखने वाले से खत के अन्त में यह भी तहरीर करवा देता था :

"ख़त पढ़ने सुनने वाले को ख़त लिखने लिखाने वाले की राम राम ।"

पुराने वक्त लद गये रहन सहन का तौर तरीका बदल गया। ख़त लिखने-लिखाने के अन्दाज बदल गये। डाक विभाग में भी नुमायां तब्दीलियां आगईं। ख़त लिखने की कला पर कई किस्म की किताबें निकल चुकी हैं। प्रेमपत्र लिखने की टेकनीक पर रिसर्च हो रही है: —"आगे आगे देखिये होता है क्या"

पत्र शुरू करने की उर्दू, फारसी और संस्कृतनुमा शैली अब आऊट आफ डेट हो गई है अंग्रेजीनुमा पत्रों का फैशन बढ़ रहा है। डियर, डारलिंग, स्वीटी, हनी ऐसे सम्बोधनों से ख़त शुरू होते हैं। मुंडन संस्कार. नामकरण, उद्‌घाटन समारोह विवाह आदि पर नये ढंग के ख़त सामने आ रहे हैं। एक नामकरण संस्कार के खत में लिखा था :

"अंकल!

आप आयें और मेरे लिए एक अच्छा सा नाम लेते आयें क्योंकि नाम वालों की इस दुनियां में मैं अभी तक बेनाम ही हूँ।"

जुडवां बच्चों के जन्मदिन का एक ख़त मुझे मिला :

"अंकल!

आप इसे संयोग कहें या कुछ और हम दोनों जिस दिन इस दुनियां में आये हमारे पापा और ममी भी उसी दिन आए थे। आप भी उसी दिन यदि दुनियां में नहीं आसके तो कोई ग़म नहीं— आप हमारे हां तो उसी दिन आ सकते हैं।"

पिछले दिनों एक मुण्डन संस्कार का पत्र मिला जो शिकायत-भरे लहजे में था :

"अंकल!

मेरे डैडी और ममी ने मेरे बाल कटवा कर मुझे जोकर बना दिया है। क्या आप मेरी इस बिगड़ी सूरत को देखने और सहानुभूति दिखाने भी नहीं आयेंगे।"

हिन्दी साहित्य के विविध वादों के प्रभाव भी नये ख़तों में प्रकट हो रहे हैं। एक रहस्यवादी-कम-छायावादी वैडिंग-कार्ड का नमूना देखिये :

"क्षितिज के उस ओर जा रहे जीवन पथ पर......
हम द्वैत से अद्वैत होने जा रहे हैं
विवाह की स्वप्निल मंगल वेदी में
आप आशीर्वाद के केशर-कलश से
कुछ गंधभीने रंगबिंदु आकर हम पर बरसाएं"

एक प्रगतिवादी निमंत्रण पत्र का नमूना इस प्रकार है :

"समाज की प्रचण्ड प्राचीरों को तोड़ कर
बुर्जुआवादी मां बाप की अन्ध मान्यताओं के स्तूप को भस्म कर हम एक हो गये हैं।
यदि आप को और आप के बाप को आपत्ति न हो
तो गरम-गरम चायपान पर आप आ सकते हैं"

नई कविता और अकविता में जिस सपाट ब्यानी के नज़ारे देखने को मिल रहे हैं उसका प्रभाव नये ख़तों पर भी पड़ा है—एक मुण्डन संस्कार के निमंत्रण पत्र का नमूना इस प्रकार है :

"मेरे बेटे का मुंडन संस्कार
जो एक प्रकार से मेरा ही चुण्डन संस्कार है
उस पर आप एक विवशता में आमंत्रित हैं
क्योंकि
आप या तो इस सिचुएशन को फेस कर चुके हैं
या किसी दिन यह सिचुएशन आप को भी भोगनी होगी।"

आज जहां विज्ञान के नित नये चरण सामने आ रहे हैं वहां ख़त लेखन के भी नये से नये रूप प्रकट होते जा रहे हैं।

[५४—ए/डी; गांधी नगर, जम्मू तवी]

विवशताओं का मौन

—श्रीमती सरोज शरण

भाना पतझर का मौसम है
और हवाओं के आंगन में—
शरद् बांट रही कटुताएं।
टंग गई हैं—
टहलती दृष्टियां
पर—
चुभ रहा है आकाश
हर उत्तर है अनपेक्षित
बताओ—
क्या करे मन ?

अनचीन्हा नहीं है विवशताओं का मौन
और—
सहे नहीं जाते सपनों के गीत
पर—
मूक बधिर चित्रकार है वक्त
बताओ—
क्या करें शब्द ?

[जे—३३, सुभाष मार्ग; सी० स्कीम, जयपुर]
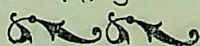
‘कविता जैसी रचनाएं’ और भाषा का प्रश्न

—डा० श्याम परमार

समकालीन कविता के अन्तर्गत व्याख्या - सापेक्ष अथवा स्वीकृत अर्थ में ग्राह्य ‘कविता’ का अधिकांश इधर समाप्त होता जा रहा है। अर्थात् ‘कविता’ शब्द के सन्दर्भ में आज के कृतित्व का बड़ा अंश ‘कविता जैसी’ रचनाओं के रूप में ही अधिक सामने आ रहा है। ‘कविता’ नामक विधा अपनी जड़-ग्रन्थियों से छूटकर इतनी अधिक व्यक्तिपरक और सहज प्रयोज्य हो गयी है कि कथ्य को भाषा-माध्यम द्वारा बोधगम्य बना पाना जितना आसान है, कथ्य की भीतरी शक्ति को सही माने में प्रोजेक्ट करना उतना ही कठिन है। जिसे भाषा का संकट समझा जाता है वह असल में अभिव्यक्ति की विवक्षा और रचना प्रक्रिया के रूप में, छलावे से मुक्त, अपनी बात को स्पष्ट व्यंजित करने की समस्या है।

इस सन्दर्भ में ‘कविता’ से अलग ढंग की रचनाओं के पक्ष में ही, भाषा के प्रश्न पर, बात को कहा जाना उचित होगा। सुविधा के लिए ऐसे कृतित्व को कोई नाम दिया भी जा सकता है और उसे कई खेमों में बाँटा जाना भी मुश्किल नहीं होगा। ऐसा हुआ भी है मगर उसकी चर्चा करने से सन्दर्भित प्रश्न अपनी धुरी से हट जायेगा। अतएव इस लेख में ‘आज की कविता’ या ‘समकालीन कविता’ से मेरा तात्पर्य प्रधानतः उन्हीं रचनाओं से होगा जो ‘कविता’ के शास्त्र

सम्मत अर्थ से अलग हैं। इस कोटि की उपलब्ध रचनाएं, साहित्य के नाते, कविता होकर भी 'कविता' के अभिजात्य संस्कारों से काफी दूर तक मुक्त हैं और मुक्त होने की यंत्रणा से गुज़रते हुए लगभग निस्संग होती जा रही हैं। उनकी शक्ल और उनमें व्यक्त होने वाली आन्दोलित प्रवृत्तियों को देखकर भी उन्हें 'कविता' की संज्ञा से अभिहित किया जाना मुझे व्यर्थ लगता है। इस बात से मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस कविता की भाषा के सम्बन्ध में मैं कुछ कहना चाहता हूं उसका पूर्ववर्ती स्वरूप पूरी तरह खण्डित हो गया है। अतः आज की विरूपित कविता या 'कविता जैसी' लगने वाली रचनाएं ही मेरा लक्ष्य हैं।

भाषा का काम संप्रेषित करना है। उससे अधिक संप्रेषण कविता का क्षेत्र है। आज की कविता में जिन स्थितियों और मानसिक जटिलताओं का उद्घाटन भाषा ने किया है उसका मिला-जुला स्वरूप निश्चय ही कल की काव्य-भाषा से अलग है, और आगामी कल की भाषा भी निस्संदेह आज की भाषा से अलग होगी। जाहिर है, भाषा का रूप कविता में सबसे पहले बदलता है और साहित्य की अन्य विधाएं उसका अनुकरण करती हैं।

समकालीन कविता में व्यंजित आक्रोश की ओर सबसे पहले प्रायः सभी का ध्यान जाता है। अभिव्यक्ति के स्तर पर इस आक्रोश में वे तमाम क्रुद्ध मनःस्थितियां सम्मिलित की जा सकती हैं जो वैयक्तिक भूमि पर सामयिक सम्बन्धों की निर्भरताओं से पैदा हुई हैं। उनमें प्रकट होने वाला व्यवस्थाओं का जाल व्यक्ति के अस्तित्व को सिर्फ बेहद विवश ही नहीं बनाता, बल्कि उसे व्यर्थता का अहसास भी दिलाता है। कविता की समकालीन प्रक्रिया में स्थितियों और मजबूरियों से कुपित-क्रुद्ध मन कितना उद्धत और आक्रामक होगा यह वैयक्तिक स्वभाव पर निर्भर करता है। होता यों है कि अव-चेतन में पड़ी गाली देने की आदत प्रतिक्रियात्मक होने पर सीधे-सीधे गाली देने से ही खुलती है। यह भी होता है कि उस स्थिति को आक्रमण का सन्दर्भ देने के लिए भाषा की पकड़ में कुछ इस तरह बांधा जाय कि प्रति-आक्रमण की गुंजाइश न रहे और लक्ष्य अपने ही स्थान पर ध्वस्त हो जाये। मेरे इस कथन को स्पष्ट

समझने के लिए आज की रचनाओं में सैकड़ों पंक्तियां उपलब्ध हैं। वे सिर्फ़ शोले फेंकती हैं और उनके शोले साहित्यिक मर्यादाओं की ढाल पर जाकर व्यर्थ हो जाते हैं। बहुतेरे शोले वहां भी बेकार जाते हैं जहां पाठक उन्हें गाली मान कर टाल देता है, मगर उनसे अपने अन्दर प्रश्नों की बेचैनी अनुभव नहीं करता। आक्रोश की आक्रामक भाषा व्यक्ति की कमज़ोरी की निशानी है। कमज़ोर आदमी एकदम उबलता है और देर तक उबलता रहता है। उससे लक्ष्य का तनिक भी अहित नहीं होता। कविता में प्रयुक्त मनःस्थितियों की ऐसी भाषा केवल इतना जताती है कि उसका प्रयोक्ता बेहद नाराज़ है। क्रोध की भाषा में वस्तुस्थिति साफ नज़र नहीं आती। उसका कोई तार्किक संचरण नहीं होता। लेकिन इसी नाराज़ी के पीछे विवेक का सहारा हो तो आक्रोश लक्ष्य को सही-सही चोट देता है। वक्रता के बावजूद अभिव्यक्ति भाषा की नुकीली किरचों को उन विसंगतियों पर गाड़ देता है जिनके प्रति सचेत पाठक सोचने के लिए बाध्य हो जाता है। उसे भी समझ में आ जाता है कि—

> शब्दार्थ के
> पहले भी बाद भी
> शब्दों और शब्दों के बीच
> कई गड्ढे हैं।

[मृतपत्र : कैलाश बाजपेयी]

स्पष्ट है, समकालीन कविता बुद्धि से समझी जाती है, भावना से नहीं। शब्दों के अर्थ-सम्मत प्रयोग और भाषा के सही उपयोग के प्रति आज का लेखक भुलावे में नहीं है। उसकी बात वहीं लड़खड़ाती है जहां उसका आवेश विवेक की पकड़ से छूट जाता है। इसका तात्पर्य परोक्षतः यह हुआ कि आज की कविता, जो दरअसल व्यक्ति-मन की विवशताओं को कई रूपों में खोलती है, भाषा के इस्तेमाल के प्रति सावधान है। इसके माने यह हुए कि उसका रचना-जगत पूरी तरह स्फूर्तिजन्य नहीं है। मगर रचनात्मक क्षणों की एक मुश्किल यह भी होती है कि कविता की भाषा कथ्य को रूप देते वक्त शब्द-रूढ़ियों के पूर्ववर्ती 'फिक्सेशन' से अपने को बड़ी

कठिनाई से बचा पाती है। रचना के वक्त आज का लेखक कविता जैसे फार्म की गिरफ्त में जब खुद को डाल देता है तब रचना का नहीं, स्वयं लेखक का उद्घाटन होता है। उद्घाटन की इस क्रिया में उसकी अर्जित भाषा ही सही भाषा होती है। इसी चक्कर में उसके भीतरी और बाहरी संघर्ष को समझने के लिए हमें सामग्री मिल जाती है। कुछ ग्रन्थियां होती हैं जो खुलना नहीं चाहतीं, लेकिन शब्दों के पूर्ववर्ती संस्कारों के धक्के से खुल जाती हैं। कमज़ोर ग्रन्थियों को अनखुला रखने में विवेक का अंकुश बड़ा काम करता है। 'प्रतिबद्धता' का सिलसिला जहां भी कविता के किसी पक्ष के साथ जुड़ा होता है, वहां यह अंकुश कविता की वास्तविक शक्ति को उभरने नहीं देता।

फिर भी यह विधा लेखक के सर्वाधिक निकट है। पुराने शब्द-संस्कारों और मुहावरों से मुक्त होने के लिए रचयिता का संघर्ष, जैसा कि मैं अनुभव करता हूं, प्रक्रियात्मक कम होकर प्रति-क्रियात्मक अधिक हो जाता है। इधर लिखी गयी कुछ लम्बी कविताओं में इसकी नस पकड़ी जा सकती है। प्रतिक्रिया इतिहास को मिटाती है, लेकिन भाषा के क्षेत्र में इसकी गति इतनी तेज नहीं होती। उसे बदलाव का स्तर ज्यादातर वहीं प्राप्त होता है जहां कशिश प्रक्रियात्मक हो। वही अभिव्यक्ति की सही भाषा होती है वही अपना प्रभाव सार्थक करती है। कशिश के ऐसे क्षणों में जहां मानसिक रूप से लेखक इतिहास-मुक्त हुआ है वहां उसकी भाषा शब्द-सन्दर्भों और व्यंजना में पूर्ववर्ती मुहावरों से अलग हुई है।

इस तथ्य के साथ एक और तथ्य बहुत अधिक जुड़ा हुआ है। वह यह कि आज कवि मात्र भाव-विह्वल स्थिति में रहने वाला मूढ़ व्यक्ति नहीं। वह जागरुक है, व्यवहारिक है और इन सभी बातों को जानता समझता है। पूर्ववर्ती भाषा से ऊब कर यकायक नयी भाषा को ले आना उसके वश की बात नहीं। उसे ज्ञात है कि उस के अपने माध्यम से अपने ही वक्त और स्थान को ध्वनित करने के लिए उसकी भाषा बदलते हुए विधा-परक रूप के साथ ही परिवर्तित होगी। यहां यह देखना उचित होगा कि इस दृष्टि से, दूर-दराज कस्बे के कविता-लेखक का समय-बोध शहर के कविता लेखक के

समय-बोध से भाषा के स्तर पर एक नहीं होता। दोनों की भाषा में बृहत्तर सन्दर्भ और पीड़ा के क्षेत्र-स्थानीय सह-सम्बन्धों के अनुरूप होते हैं। रायपुर का कवि 'टी-हाऊस' की बात नहीं करता, दिल्ली का कवि उसे अपनी 'आइडेन्टिटी' के लिए अभिव्यक्ति का अंग बना लेता है।

कविता अपने मूल रुप में 'स्पार्क' मात्र होती है, या कहिए एक खरोंच होती है या कोई चिन्ह। बाकी काम उस 'स्पार्क' या खरोंच को शक्ल देना होता है। इस बात के साथ मुझे यह विश्वास होने लगा है कि कविता या 'कविता जैसी' रचनाएं प्रायः सायास भी लिखी जाती हैं। अर्थात् 'स्पार्क' या खरोंच को अपेक्षित स्वरूप में लिखने का समूचा प्रयास सहज नहीं होता। उसमें अनायास का आग्रह एक आरोपित तर्क है। इस कृत्रिम धारणा को साहित्यिक मर्यादा में बांधकर सदियों से माने चले आना भी कितनी बड़ी विडम्बना रही है। बात केवल 'स्पार्क' की है। फिर चाहे अच्छी भाषा में संगत अपील पैदा करने के लिए उसे गढ़ा जाये या उखड़ी हुई भाषा में विसंगत शैली द्वारा प्रभाव पैदा करने के लिए उसे रूप दिया जाय। हर हालत में उसका ढांचा सायास ही तैयार किया जाता है। उसमें सावधानी बरती जाती है। अपेक्षित प्रभाव का खयाल रखा जाता है।

यहां-वहां शब्दों को तोड़ा जाता है। 'इम्फ़ेसिस' के लिए विशिष्ट शब्दों को 'ब्लेक' में रखा जाता है। विचार प्रवाह को सही सन्दर्भ देने के लिए पंक्तियों को खास ढंग और दूरी से लिखा जाता है। इस नाते क्या कविता और कविता से इतर समूचा साहित्य भी प्रयत्नगत अथवा शिल्प मात्र नहीं लगता ?

वास्तविक कविता हर स्थिति में दूसरे के लिए होती है। उसका एक स्थान से निःसृत होना ही उसके गन्तव्य तक पहुंचने से जुड़ा है। वह जितनी उसके लेखक के लिए है उतनी ही उसके ज्ञात-अज्ञात पाठक के लिए भी है। लिखने वाले के मन में कविता का वह रूप जो पाठक तक पहुंचता है कविता के 'स्पार्क' के साथ उन क्षणों में उदित होता है जब उसे शब्दों में अंकित किया जाता है। इस प्रकिया के तहत क्यों न कविता की रचना प्रक्रिया को गढ़ने और

मांजने की क्रिया माना जाय ? और जब गढ़ना ही है तो उन शब्दों मुहावरों और संस्कारों से बंधे हुए अभिप्रायों को क्यों न छोड़ने की सावधानी ली जाये जो हमारी बात को आज व्यंजित करने में पंगु हो गये हैं ? भाषा जहां खोखली हो गयी है वहां उसके गलित रूप से अपना लगाव तोड़ लेना एक समझ-बूझ का ही काम होगा। इसी से कविता की भाषा बदलेगी—उसे नये संदर्भ मिलेंगे।

भाषा और शब्दों का खुला क्षेत्र पूरी तरह रचयिता के हाथ में है। उसे यह भी ज्ञात है कि उसकी कविता भावबोध और रसबोध से नहीं बुद्धि से ग्रहण की जाती है। इसलिए कविता के सामने भाषा का संकट नहीं है। यह अगर संकट किसी के लिए हो सकता है तो उसके लिए होगा जो अपने मुहावरों से आगे भाषा के बदलाव में अपने अस्तित्व को विनष्ट होते हुए पाता है, या फिर उसके लिए हो सकता है जिसकी भाषा बात कहने के लिए कमज़ोर है। विवेक से सम्प्रक्त कविता के लिए भाषा का कोई संकट नहीं है।

एक बात को आज हजार तरह से कहा जा सकता है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' और 'देहान्त से हट कर' दोनों शीर्षकों में क्या एक ही अर्थ-ध्वनि नहीं निकलती ? यह उदाहरण मैंने किसी आरोप के विचार से नहीं दिया, बल्कि भाषा के चुस्त-दुरुस्त उपयोग की बात के समर्थन में दिया है। हिन्दी कविता में समान ध्वनि के कई प्रसंग मिलते हैं। हर व्यक्ति का निजीपन फिर भी उस ध्वनि के साथ होता है। राजकमल ने 'मुक्ति प्रसंग' में पजामा फाड़ डाला है तो 'आकस्मिक' में सकलदीप सिंह कमीज चीर डालता है और मणि मधुकर 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' में कुछ और उधेड़ लेता है। उधेड़ते सब हैं, पर सबकी अपनी अदा है। यह अदा ही भाषा की सामर्थ्य जताती है।

आज की कविता में बहुतेरे शब्द कोषगत अर्थ के घेराव से बाहर आ गये हैं : वाक्यों में प्रकट होने वाली अर्थवत्ता के पीछे और भी अर्थगर्भित तथ्यों की ध्वनि मिलती है। कभी-कभी एक या दो शब्द या मात्र चार-पांच शब्दों का समूह बहुत कुछ कह देते हैं। यह एक ऐसी स्थिति है कि इससे कविता और पाठक के बीच

भाषा और शैली के मामले में व्याख्याता की आवश्यकता अब समाप्त हो गयी प्रतीत होती है। कविता की भाषा और कथ्य की शब्दश: विवेचना और काव्य-शास्त्र-सम्मत निरूपण एक मध्ययुगीन प्रवृत्ति है। अपनी रचना की मानसिक पृष्ठभूमि और उसके लक्ष्य की जानकारी केवल उसका रचयिता ही ठीक-ठीक दे सकता है। सौमित्र मोहन के 'लुकमान अली' को समझने के लिए पाठक को कविता से सीधे जुड़ना होगा। उसके लिए व्याख्या का माध्यम एक भोंडा आधार होगा। पेशेवर आलोचक यहां काम नहीं आयेगा।

प्राय: कहा जाता है कि अनुभूति की प्रगाढ़ता और साहित्यिक जीवन के लम्बे संघर्ष से कविता में प्रौढ़ता आती है। यह तर्क एक पुरानी ढाल है। अगर अनुभूति और वर्षों का रियाज़ ही श्रेष्ठ कविता की कसौटी है तो पंत और शमशेर से हमें आज भी अच्छा कृतित्व मिलना चाहिए। और भी नाम लिये जा सकते हैं इस सम्बन्ध में। मगर ऐसा होता नहीं है। वैसे भी अच्छी और बुरी कविता का विभेद एक कमज़ोर आधार है। कविता केवल कविता होती है ("कविता जैसी" रचना से मेरा तात्पर्य है) या कविता नहीं होती।

समसामयिक स्थिति में व्यक्ति को विज्ञान ने कम उम्र में ही बहुत कुछ दे दिया है। उसे धूप में अपने बाल सफेद करने की ज़रूरत नहीं है। भाषा और अनुभूति का खुला क्षेत्र उसके हाथ में है। कविता के लिए उसके सामने फिर किस बात का संकट होगा? संकट है, है ही, वास्तविकता को ईमानदारी से भाषा के पक्ष में ग्रहण करने का। इसके अभाव में भाषा का पर्याप्त सहारा होने पर भी कविता शब्दों की एक 'अरेन्जमेन्ट' मात्र होगी। वह अन्दर कहीं जाकर बजबजायेगी नहीं। कैलाश बाजपेयी के आक्रोश का यही हश्र कविता में हुआ। प्रश्न यह है कि 'वास्तविक सत्य' और 'प्रकट सत्य' के बीच का अन्तराल किस भाषा से पाटा जाये? संवेदना का आग्रह भाषा का औपचारिक सूत्र है। आक्रोश की तरह संवेदना की भाषा भी अपने विषय को एक छलावे का रंग देती है। शब्दों में से शब्दों के सूत्र कविता को ध्वनियों की विलासिता से बांधते हैं। रचयिता यहां शब्दों की माया में पड़

जाता है। 'कविता जैसी' रचनाओं के लिए असम्पृक्त और निस्संग विवेक की भाषा ही आज के अन्तर्विरोधों को खोलती है। इस प्रक्रिया में जिसका अधिकांश मात्र 'स्पार्क या बिम्ब को छोटी-सी जमीन पर 'स्काय स्क्रेपर' खड़ा करना, लेखक को कहीं अवरुद्ध नहीं करता। क्योंकि उसका समस्त रचना-जगत सायास होता है और उसके लिए उसे उतने ही ज्ञान की आवश्यकता है जिसके सहारे वह अपनी बात को बिना किसी दबाव के रूप दे सके।

समसामयिक कविता की भाषा और रूपगत स्थितियों ने एक तरह से कविता की विधा को तंत्र-मुक्त कर दिया। उसने कविता को 'कविता' से बाहर लाने का खतरा उठाया है। अभिजात्य बपौती की तरह कविता जैसी विधा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की विलासिता क्यों रहे? उस पर सरमायेदाराना हक जता कर मात्र कुछ व्यक्ति ही कविता का प्रतिनिधित्व क्यों करें? जब कि कविता की रचना स्फूर्तिजन्य अथवा अनायास नहीं होती, तब किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति को उस विधा में, अपनी वैयक्तिक सामर्थ्य और अर्जित विवेक द्वारा अनुकूल अभिव्यक्ति पाने से कैसे रोका जा सकता है? कविता अपनी बात कहने का साधन उन सभी व्यक्तियों के लिए हो सकती है जो विवेक और भाषा के जरिए उसे वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में रख सकें।

[डी०/ई०—74, टगोर गार्डन, नई दिल्ली —27]

"अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार"

—मुक्ति बोध

बैसाखियों वाला शहर

—फूलचन्द 'मानव'

समान्तर भागती क्रमश: इमारतें
यहां कितनी भव्य हैं
कतारों और किरायेदारों की जिन्दगी जीते लोग
कितने खुशहाल, हमदम, और कितने सभ्य हैं।

बस स्टैंड पर उतरा यायावर सोचता है—
गुलाबी संस्कृति में पला यह शहर
बाहर से खरबूजा, अन्दर से संतरा है
चौड़ी सड़क पर रेंगती भीड़ का दिल, कितना दरिया
कितना संकरा है।

इस द्वीप-शहर में यह कहां आ गया हूं ?
जहां सपाट-सीधी सड़कों पर दौड़ता जन-जीवन
कितना खु हाल, कितना खुला है !
प्रत्येक बड़े चौराहे पर, सैक्टरों-फैक्टरों का यह कैसा
सिलसिला है !

यहां इमारतों को खम्भों और स्तम्भों की
संख्या पर पहचानते हैं लोग। वर्गाकार स्तूपों, तिरछी
क्यारियों,
आयताकार बंगलों को सजाने का यह सलीका कहां से आया?

इधर आदमी, आदमी को देखता नहीं, घूरता है
साथी-पड़ौसी की बगल से बतियाता नहीं, बिसूरता है।
कि बुर्जुआ सभ्यता की बात क्या करे कोई ?
कल किसी का एक स्वप्न था यही, स्वप्न—
जो आज एक शहर है,
विज्ञान के युग में यहां ठण्डी सुबहें, रंगीन रातें—
जवान शाम और तीखी दोहपर है।

पानी और हवा के शहर में यह रेत कहां से छनता है ?
शीशों और सींखचों के टापुओं में, समांतर पेड़ों की
लगातार कतारें,
खुशनुमा फूलों की गंध, सुर्ख ज़र्दीले रंग,
और मौसमी लिबास तंग हैं।

इस्पात और कंक्रीट की बस्ती में
बिल्डिंग-दर-बिल्डिंग समय नापता यायावर
आंखों से धूप का चश्मा उतारता है। शिवालक के अंचल में,
मशीन नुमा लोगों को, साश्चर्य निहारता है,
राह चलती 'मशीन' को सायास पुकारता है।
किसके पास है वक्त, घड़ियों में कैद समय, बिजली की तारों
पर दौड़ता है।
अजनबी पुन: आपनी आंखें यकदम उठाता है
खम्भों पर खंभे छोड़ता, गॉगल्ज चढ़ाता और, फैल्ट ओढ़ता है
कहीं से सुना होगा नाम, कन्याकुमारी के मंदिरों-सा
पुर्जों में घिरा, घिसा आदमी, यहां आदमी नहीं :—
मशीन हो गया है।

तभी शायद आने वाला कल, बीते कल से नया है।
एक बारगी किसी स्वप्न का मुगालता होता है
जब महीने की पहली तारीख को—
पहियों वाला घर सड़कों पर दौड़ता है
कि हर हफ्ते कोई ने कोई घर बदल रहा होता है
माह में एक सप्ताह का जीवन, अपने, आप यहां जी लेते हैं लोग
तीन चौथाई फाइलों से खेलते,कागज़ी-ज़हर पीते हैं

कि बाहर से संतुष्ट, सभ्य; भीतर से रीते हैं।
एक सही एक बटा तीन ($1\frac{1}{3}$) देश का दर्पण है—
मेरा शहर।

यायाकर चौंका है, किसी ने राह चलते कहा था—
बैसाखियों वाले शहर जा रहे हो दोस्त ! क्या लाओगे ?
सोचता हूँ, भीड़ है तो चप्पलों के बूथों पर
या गोलगप्पों की रेड़ियों पर। चहूँओर जमघट है मेला है
फिर भी हरेक यहां भीड़ में अकेला है।

पुष्प—प्रस्तरों पर खुदे संकेत चिन्ह
लहरों पर तैरते सुखना-सरोवर टापुओं में
कितने कमल, कितनी कलियां हैं
अजन्ता एलोरा के बैक-फलैश म्यूजियम, मोहनजोदाड़ो, हड़प्पा
कैडिट-कन्याओं की भीड़, शिल्प-शिक्षा, कानून-कला,
संगीत-और साहित्य अंगीकार करते
समूह अदीबों की एक अपनी आवाज है
सांस्कृतिक समारोह, नाटच-नृत्य, आदि
विकास शील पीढ़ी के प्रयोगात्मक साज़ हैं।
कि सभ्यता की इक्कीसवीं बर्षगांठ—
नयी शातब्दी का पोर्ट्रेट है यह शहर।

[१८५/११ एफ; २३ ए—चन्डीगढ़ १६००२३]

सब्ज़ी की दुकान

—देवरत्न शास्त्री

"ओ काका, रतन जी का क्या हाल है ?"

उसने मुझे उसी तरह पुकारा जैसे आज से बीस साल पहले पुकारा करता था।

आज-कल जम्मू की सड़कों पर भी मोटरकारों, स्कूटरों की ऐसी रेलपेल हो गई है कि पैदल चलने वालों को अत्यन्त हीन भावना से बचने के लिये अपनी चाल तीन चार गुना करना पड़ जाती है।

ढलानों पर, जिन की जम्मू में काफ़ी बहुतायत है, चाल यूं भी अनायास बढ़ जाया करती है। इसलिये उसकी तीखी आवाज़ के कारण एकदम रुकते मुझे वैसा ही शारीरिक व मानसिक झटका लगा जैसा तेज़ रफ्तार कार को एकदम ब्रेक लगाने पर लगता है।

"काके, अब हमसे बोलते तक नहीं। हां भई! अब बड़े जो हो गये हो। तुम्हीं रेडियो पर बच्चों का प्रोग्राम करवाया करते थे न ? सुनाओ, रतन जी का क्या हाल-चाल है ?"

"जी ठीक हैं। वे अब संन्यासी होगये हैं।"

"अरे गेरुआ पहन लिया कम्बख्त ने "

"गेरुआ तो नहीं पहना, पर......... "

"पर घर से बाहर रहता है, यही न ?"

"जी यही। वे अब घर नहीं आते।"

"चलो ठीक ही हुआ, पर कम से कम मुझे तो पूछ लिया होता गुरू ने।"

"जी मैं कह दूंगा उनसे।"

"हां, कह देना कि फिर कभी ऐसी बात करनी हो तो के० एल० सहगल के बाप से ज़रूर पूछ लिया करे।"

और उसने काकराज के स्वर में "बावुल मेरा नैहर छूटो जाय" गाना शुरू कर दिया और मैं उसके चेहरे पर से, जहां जवानी के संगमरमर पर अधेड़पन के खुरदरे कंकड़ों की पर्तें उभर रही थीं, उसकी बुझती आंखों में से, जहां खोखलेपन के साथ कभी खीझ, क्रोध और वहशीपन की मिलीजुली चिंगारियां चटक जाती थीं; उसके अधगंजे सिर से, जहां बेतरतीबी से बिखरे, रूखे इनेगिने बाल किसी टूटे खिलौने के रेशों की याद दिला रहे थे, अपनी सनकी भावुक आंख गड़ाकर अतीत की रेखायें ढूंढने का प्रयत्न करने लगा।

गांव में अभी वह अमियों, बिल्लौर की गोलियों और कबड्डी की धमाचौकड़ी में ही मगन था कि उसकी मां वहां चली गई, जहां आत्मा नया रूप धारण करती है। उसे हैज़ा हुआ था। दोपहर तक भली चंगी थी। शाम को कै और दस्त शुरू हुए और आधी रात होते होते बेचारी सभी दुखों से छुटकारा पा गई। जीवन भर पति-पुत्र के लिये कोल्हू के बैल की तरह निरन्तर परिश्रम करने वाली उस औरत ने अन्त समय में भी पति को कष्ट नहीं दिया। दवा दारू की प्रतीक्षा नहीं की। करती भी तो उसे न मिलती। छोटा सा खेत ही उनकी सम्पत्ति थी जिससे केवल इतनी आमदनी होती थी कि तीन प्राणियों का पेट मुश्किल से भरा जा सके। जीवन की बाकी ज़रूरतों के लिये इधर उधर हाथ मारना पड़ता था। गृहस्थी क्या थी, अभावों की जीती जागती तसवीर थी। फिर भी गृहपति को ठर्रे की शराब के लिये लक्ष्मी की प्राप्ति कैसे हो जाती थी, यह उन महापुरुष मित्रों को ही मालूम था जो ऐसे अभागों पर

ऐसी कृपा करने के लिए हर समय प्रस्तुत रहते हैं। इसलिये उस अभागिन ने दवा की प्रतीक्षा किये बिना संसार से प्रस्थान करके अत्यन्त बुद्धिमता का परिचय दिया। अबोध बालक मां की मृत्यु के छः महीने के अन्दर ही अत्यन्त बोधवान हो गया। उसे न तो अब अमियों से रुचि थी और न ही कांच की गोलियों से। कबड्डी की धमाचौकड़ी उसके लिये बिना मीठे की चाय जैसी हो गई थी। वह गुमसुम, मशीन की तरह खेत में काम करता। खाना मुंह में ऐसे ठूंसता जैसे बोरे में भूसा भरा जाता है। पियक्कड़ बाप की गालियां उसे रात में तब तक सुननी पड़ती थीं जब तक नींद की देवी उसे अपनी गोद में नहीं ले लेती थी। एक दिन बाप की गाली गलौज भी समाप्त हो गई। उस रात वह बाप के आने की और उसकी भद्दी गालियों की तब तक प्रतीक्षा करता रहा जब तक दिये का तेल लौ को जावनदान देता रहा। जब बत्ती मद्धम हो कर फड़फड़ाने लगी तब वह घबरा उठा। उसके कान और आत्मा बाप की गालियां सुनने के ऐसे आदी होगये थे कि उनके बिना उसे घर की हर चीज़ में भूत होने की आशंका होने लगी। उसके लिये अन्दर बैठना दूभर हो उठा। वह दौड़ता हुआ बाहर आकर अमरूद के पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। फिर गांव के परिचितों और सम्बन्धियों के हां देर तक चक्कर काटता रहा। अगले दिन भी यह सिलसिला तब तक चलता रहा, जब तक उसे विश्वास नहीं हो गया कि अभागिन मां की तरह अभागा बाप भी उस अभागे को छोड़कर वहां चला गया है, जहां आत्मा नया रूप धारण करती है।

और फिर एक दिन सगे सम्बन्धियों की सलाह पर भाग्य को नये सिरे से परखने के लिए उसने जम्मू निवासी मामा के घर की ओर प्रस्थान किया। वैसे उसे अपने भाग्य पर विश्वास नहीं था।। भाग्य उल्टा न होता तो माता पिता उसे क्यों छोड़ कर चले जाते। लेकिन उसके हितैषियों को अन्तर्यामी की असीम कृपा पर पूरा विश्वास था, इसलिये उसे भी विश्वास करना पड़ा। उसके मामा मींगी साहब पर तो सचमुच अन्तर्यामी की असीम कृपा थी; नहीं तो साधारण क्लर्क भर्ती होकर इतने बड़े ओहदे तक कैसे पहुंच जाते। इतना बड़ा मकान, धन-दौलत, नौकर-चाकर, इज्जत-मान

कैसे हो जाता। जिस मुस्कुराहट और तपाक से उन्होंने उस अभागे बालक का स्वागत किया उससे उसे अपनी भाग्यहीनता पर अविश्वास होने लगा। आखिर भगवान किसी को यूं ही थोड़ा बड़ा बना देता है।

किसी के हृदय की विशालता के कारण ही वह उस पर रीझता है। लेकिन हफ्ते भर में ही मामा जी के चेहरे की रेखायें फीकी पड़ गईं और फिर धीरे-धीरे अनन्त में विलीन हो गईं। उन की जगह अब उनके चेहरे पर हर समय उदासीनता और गम्भीरता की सिकुड़नें फैली रहती थीं जो उस अनाथ बेसहारा किशोर बालक को देखकर, और भी बढ़ जाती थीं और यह सब उस सहमे बालक को और ज्यादा भयभीत करने के लिये काफ़ी था। मामी जी तो शुरू से ही उसके आने से प्रसन्न नहीं थी। उनके विचार में उस अशुभ बालक के दुर्भाग्य के कारण ही उसकी मां परलोक सिधार गई थी और बाप भी उसी रास्ते पर चल निकला था। ऐसे अभागे को घर में रखना बदकिस्मती को न्यौता देना है।

"तो फिर इसे होस्टल में भर्ती करा दिया जाए"?

मींगी साहब आज्ञाकारी सेवक की तरह श्रीमती जी से अनुमति मांग रहे थे।

"तो आप इसे स्कूल में भर्ती करायेंगे"?

"हाँ वह तो होना ही चाहिये। बेचारा चार अक्षर पढ़ गया तो किसी दफ्तर में छोटा मोटा क्लर्क बनवा दूंगा"।

"आप भी कभी बेसिर पैर की हांकने लगते हैं। १५ साल के बूढ़े तोते को किस स्कूल में पढ़वाओगे ? कौन मास्टर पढ़ायेगा इस गंवार को" ?

"तो फिर करूं क्या ? अनपढ़ को तो आजकल चपरासगिरी भी नहीं मिलती। मिल भी जाए तो लोग क्या कहेंगे—मींगी का भानजा चपरासी है।"

"तो मींगी साहब का भानजा बड़ा अफ़सर बनने से तो रहा।"

"कोई छोटी मोटी दुकान ही खोल दें ?"

"काहे की ? सोने चांदी की न ? हां, हां, यही करो, घर-बार बेचकर खड़ी कर दो भानजे के लिये दुकान और खुद गेरुआ पहनकर चल दो काशी की ओर।"

और मींगी साहब में गृह लक्ष्मी के चण्डिका रूप का दर्शन करने की सामर्थ्य नहीं थी। ऐसे मौकों पर वे अखबार लेकर बाहर लान में जा बैठते और राजनीति की नोंकझोंक में खो जाने का प्रयत्न करने लग जाते।

जैसे सब कुछ भांप कर अभागे बालक ने खुद ही पहेली सुलझाई—मामा जी मुझे सब्ज़ी की दुकान खोल दीजिये।

"तुम सब्ज़ी की दुकान करोगे ?"

"हां मामा जी, रात को मैं वहीं सोया करूंगा।"

"ठीक तो है लेकिन............"

"मामा जी, मैं रोटी वहीं खुद पका लिया करूंगा।"

सुझाव अच्छा था। एकमुश्त सौ डेढ़ सौ खर्च करके मुसीबत से छुटकारा पाया जा सकता था, पर वंश की प्रतिष्ठा का प्रश्न फिर आगे आगया। मींगी साहब का भानजा सब्ज़ी की दुकान कैसे कर सकता था। पहले तो कोई जानता भी न था कि संसार में ऐसा भी प्राणी है जिसे मींगी साहब का भानजा कहलाने का गौरव प्राप्त है, पर अब तो सब जानते हैं। अब तो देखकर मक्खी निगलने वाली बात है।

आखिर भानजे ने ही इस दलदल से मामा का उद्धार किया। मामा की वंशप्रतिष्ठा का ध्यान भानजे को होना ही चाहिये था। एक अन्धेरी काली रात को वह उस घर से खिसक गया जहां लग-भग एक महीना पहले उसने प्रवेश किया था और जहां उस के सुनहरे भविष्य की कल्पना अपनी मनमोहिनी छवि दिखलाकर जाने कहां अन्तर्धान हो गई थी।

और जब पूरे १५ साल बाद वह बम्बई से लौटा तो मींगी

साहब को उसे पढ़ाने, नौकरी दिलाने या दुकान खुलवा देने की चिन्ता नहीं करनी पड़ी। अब वह जग्गू नहीं, श्री जगदीशचन्द्र वर्मा था,—तोंदिल लेकिन तेज से दमकता; श्यामवर्ण लेकिन ऐश्वर्य की प्रभुता से ओजस्वी, कोट-पैंट की जेबों में खचाखच ठुंसे नोट। १५ वर्ष का वह अभागा बालक ३० वर्ष का अत्यन्त भाग्यवान युवक हो गया था। जम्मू की गलियों, मुहल्लों और घरों से जो ढेर सारे नाते-रिश्तेदार उसकी चरणरज पाने को आतुर होकर बाहर फट पड़े थे, उससे उसे कोई आश्चर्य नहीं होता था। १५ साल के लम्बे अरसे में उसने दुनियां को यथार्थ रूप में देखा और पहचाना था। आज उसके पास वह गुड़ काफी था, जिसके आस पास इस तरह की घिनौनी मक्खियां मण्डराया करती हैं। यह गुड़ उसे कैसे मिला, यह कहानी केवल उसकी नहीं, सारी दुनियां की है जिसने इस मिठास को पाने की धुन में समूचे मानव जीवन में खटास भर दी है। बम्बई में तो ऐसी कहानियों के हीरो बरसाती कीड़ों की तरह हररोज बनते मिटते रहते हैं। मेरी आंखों के सामने सैंकड़ों बच्चों और नौजवानों की फिल्में घूम रही हैं जो बिना टिकट सफ़र करके जेलों की हवा खाते दिनों की बजाय महीनों में बम्बई पहुँचते हैं। फुट-पाथ पर दुकानों के बरामदों में सेठ के पांव की ठोकर, होटल में सिफलिस के रोगी की प्लेट और उसकी जूठन के टुकड़े और पट-परिवर्तन के साथ सिने-लक्ष्मी की कृपा, चमचमाती टेबल पर फाइलों का ढेर, नौकर-चाकर बंगला, मोटर, नोटों की गड्डियां और गुड़ पर मंडराती घिनौनी मक्खियां—सब कुछ मेरे सामने से गुजर रहा है। मुझे वह दिन भी याद आरहा है जब गुड़ की मिठास में होठ चट-खारते मित्र, रिश्तेदार सगे सम्बन्धी उसे हवाई अड्डे पर विदा करने गये थे और वह उन्हें मुस्कराती आंखों से देख रहा था जैसे गुड़ की पिण्डी पर मक्खियां मण्डरा रही हों।

फिर एक दिन मैंने सुना वह पागल हो गया है। विश्वास नहीं हुआ। विश्वास न करने का कोई कारण नहीं था, सिर्फ़ विश्वास करने को जी नहीं चाहता था, लेकिन पागल की वास्त-विकता अब मेरे सामने थी, जैसे फिल्म के प्रोजेक्टर को किसी अनाड़ी मिस्त्री ने उल्टी ओर घुमा दिया हो और नोटों के ढेर, मोटर बंगला, नौकर चाकर—सब हवा में उड़ते सिमटते घिसते उसे

फिर मामा की देहलीज़ पर पटक गये हों, मामा के चेहरे की रेखाओं में उदासीनता तथा गम्भीरता के गड्ढे और भी गहरे हो गये थे और मामी की सुखी गृहस्थी पर विपत्ति के बादल फिर से मंडराने लगे थे।

अतीत की धुंधली रेखायें वर्तमान के कठोर धरातल के केनवैस पर विलीन हो गई थीं वह 'बाबुल मेरा नैहर छूटो जाय' सम पर सिर को जोर से झटका देकर समाप्त कर चुका था।

"अरे काका, तुम क्या सोच रहे हो?"

"कुछ तो नहीं, मैं आपके संगीत में खो गया था।"

हां, हां, वह तो है ही। एक बार नेहरू जी ने गाना सुनने के लिये मुझे दिल्ली बुलवाया था और मैंने वह गाया कि बस...... दुनिया रंगरंगीली।"

और फिर अचानक सम से पहले ही, सिर को झटका देकर वह बोल उठा—और काका देखो, रतन जी को कह देना, सब्ज़ी मेरी दुकान से ही खरीदा करें। मामा जी ने मुझे सब्ज़ी की दुकान खुलवा दी है।

मुझे दिखाई दिया—मींगी साहब सिटी चौक के बीच खड़े हैं और आते जाते लोग उन पर सड़े गले टमाटर, बैंगन, टिण्डे, और प्याज़ फैंक रहे हैं।

मींगी साहब का चेहरा उदास, गम्भीर रेखाओं के गड्ढों में डूब गया है।

[राजकीय महाविद्यालय, उधमपुर]

मृत्यु बोध

—रेखा जसवाल

उन क्षणों के
पास से नहीं,
भीतर से—
बहुत भीतर से होकर—
गुज़री हूं मैं;
जब
आस्था की नींव का
हर एक पत्थर हिल गया है
और समूचे मन से
महसूसा है मैंने
कि यह नीलाकाश
गिर जायेगा
अभी,
इसी पल
टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जायेगा
और
दूर-दूर तक फैली
बन्ध्या धरती की बाहें
सहेज नहीं पायेंगी—

आकाश का विस्तार !
तब—
हाँ तब—
मुझे लगा है कि धसकती ही चली जाती है
धरती
मेरे पांवों के नीचे की,
उतरती ही चली जाती हूँ मैं
अंधेरे सागर की अथाह गहराइयों में।
फिर भी
स्पष्ट रूप से किया है
मैंने
अपनी मृत्यु से साक्षात्कार
और
उन मिलन के पलों में
कभी
चीखी हूँ मैं लगातार
कभी निरीह बन
रो दी हूं,
फिर
स्वयं ही सहज होकर
हंस दी हूँ—
ऐसा हुआ है बहुत बार।
जानते हो
मृत्यु से सामना करते-करते
जी जाती हूँ
मैं
फिर - फिर—
हां !
हर बार।

[२२७, श्याम नगर, धर्मसाला (हि० प्र०)]

कालिदास के ग्रन्थों में केशरचना

—चम्पा शर्मा

व्यक्ति की सुन्दरता में केशों का अपना महत्व है। सुन्दर तथा चमकीले केश उसके व्यक्तित्व को निखार देते हैं। फिर यदि उन्हें बना संवार कर रखा जाये तो उसका अनोखा ही प्रभुत्व होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति के सिर में एक लाख से एक लाख चालीस हजार तक केश रहते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के केश अधिक घने तथा लम्बे होते हैं। अनादिकाल से स्त्री जाति की यह उत्कट इच्छा रही है कि उसके केश लम्बे तथा चमकीले हों। तभी तो नारी सौन्दर्य का वर्णन करने वाले प्रायः सभी कवि केशों की ओर दृष्टि डालने से नहीं चूकते। संस्कृत के विख्यात कवि कालिदास ने भी अपनी रचनाओं में पुरुषों की अपेक्षा नारी पात्रों की केशरचना पर विशेष रूप से लिखा है।

कालिदास के ग्रन्थों में न मालूम कितने केश विन्यास के ढंग अंकित किये गए हैं। नितम्ब तक लम्बे लटके हुए बालों वाली स्त्री सुन्दर मानी जाती[1] थी। बाल लम्बे होने पर भी यदि सीधे हों तो सुन्दरता फीकी पड़ जाती है। इसी कारण कवि कहीं

---

1 शिरोरुहे, श्रोणितरावलबिमि:; ....स्त्रियः रति संजनयति कामिनाम। ऋतु० २/१८

अरालकेश, कहीं कुटिल केश, कहीं विकुञ्चिताग्रान आदि शब्दों का प्रयोग[1] करते हैं।

घुंघराली के साथ - साथ घनी एवं काली लटें भी केश सौन्दर्य को अद्वितीय कर देती हैं। नितान्त घननील[2] कवि का प्रिय उपमान है।

बालों की सुरक्षा के लिये वह तेल लगा कर उन्हें चिकना रखती थीं ताकि वह गिर न जायें। पति वियुक्ता स्त्रियां न ही बालों में तेलादि का प्रयोग करती थीं न उन्हें कंघी करती थीं और न ही पुनः गूंधने के लिये चोटियां खोलती थीं जो फलस्वरूप भद्दी और शुष्क हो जाती थीं, बाल रूखे हो जाते थे, उलझ जाते थे। मेघदूत का यक्ष मेघ को अपनी प्रिया का हुलिया देते हुये कहता है कि उसने विरह के पहले दिन पुष्पमाला को उतार कर बालों की ही चोटी गूंथी थी। जिसे वही (यक्ष) शाप के अन्त में खोलेगा[3] जो छूने में कठोर, कलेशदायक और खुरदरी हो गई होगी। उस चोटी को बिना कटे नाखुनों वाले हाथ से विस्तृत कपोलों पर से बार-बार परे हटाती हुई उस पतिव्रता को वह देखेगा[4]। एक वेणी का विशेषतया उल्लेख करने से आभास होता है कि सम्भवता बहु-चोटियों की प्रथा भी रही होगी पर उल्लेख में एक वेणी का प्रयोग उपलब्ध होता है। तत्कालीन स्त्रियां समस्त केशों को केवल एक

---

1 अरालकेश, रोमां, चलक्ष्येण स यात्रयष्टि भित्वा
निरात्कायंदरालकेशाः रघु० ८१
अपराधिनी भयि दड़ संहसर्स किमुद्यातं कुटिलकेशि'—
माल० ३/२२

2 केशान्नितान्तघननील विकुचिताग्नान पूरयन्ति वनितानवमाल-तीभिः ऋतु० ३/१९

3 स्पंशाक्लिष्टाभयमित बखेनासकत्सार यन्तीम्
गण्डाभागांत्कठिन बिषभामेक वेणी करेण ।। उ० मे० ३२।

4 भूयो भूयः कठिन विषमा सारयन्ति कपोला
दामोक्तव्यामयामित नखनेकवेणी 'करणे' २८—३० मे०

लम्बी वेणी के रूप में बांधती थीं जिसकी लाक्षणिक संज्ञा[1] थी एक वेणी। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त जब स्वर्ग से इन्द्र की सहायता कर के लौटते हैं तो मार्ग में कश्यप के आश्रम में पहुंचते हैं पर वहां भाग्यवश शकुन्तला से उनका मिलन होता है मिलन से पूर्व दुष्यन्त शकुन्तला को देख कर मन ही मन सोचते हैं कि क्या यह वही शकुन्तला है जिसने मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए हैं। नियमों के पालन से क्षीण और उदासमुख बनाए एक वेणी को धारण किये हुये—शुद्धशीला होकर उसीके लिये विरहिणी व्रत का पालन कर रही है।

'कुमार सम्भव' में कालिदास लिखते हैं कि पार्वती के केश इतने सुन्दर थे कि यदि पशुओं में भी मनुष्यों के समान लज्जा होती तो चमरी अपने बालों पर इतना-इतना इतराना भूल[2] जाती।

कवि कालीदास ने अपने ग्रन्थों में स्त्री पुरुष[3] दोनों के ही लम्बे लम्बे बाल रखने का उल्लेख किया है। रघुवंश में राजा दिलीप की लटें लताओं के समान उलझ गई थीं। अतः उलझने से स्पष्ट है कि दिलीप के बाल लम्बे थे। महर्षि लोग कन्धे तक लटकती हुई जटा के मण्डल को धारण करते थे जिसमें कभी कभी पक्षीगण घोंसले बना लेते थे। बच्चों के भी काक पक्ष होता[4] था। पुरुषों के लम्बे बाल होने के सम्बन्ध में एक बड़ा दिलचस्प उल्लेख मिलता है। कवि लिखते हैं कि पुरुषों के बाल इतने लम्बे होते थे कि रानियां या पत्नियां उन्हें केशों से पकड़ कर रोक लेती थीं[5]।

---

1 शाकुन्तल ७/२१; ३० मे० २८ ख

2 लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसशम पर्वतराज पुत्रयाः
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्यवालप्तियत्व शिथिलं चमर्यः
कु० स० १/४८

3 रघु० ७/४६, १/८, १९/४३, अभि० ७/११

4 रघु० १८/४३, विक्रमोर्वशीय प्र० २४५ शिखड़कड, रघु०—
३/२८, ११/१, ४२, ५

5 मित्रकृत्यमयंदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः
रघु० १९/३१

यवन लोग दाढ़ी रखते थे[1]। दुख के समय में या इष्ट के वियोग काल में भारतीय भी श्मश्रु[2] रखते थे। दुःख के समय में केश के यथार्थ सौन्दर्य से मयूर के प्रसारित पंख अधिक सादृश्य रखते हैं। वियोगावस्था में किसी शिखीवई भार को देखकर यक्ष को अपनी पत्नी के केशों का अनायास स्मरण हो जाता है[3]।

वाल संवारने की भी कई विधियां कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित हैं। कुछेक स्त्रियां अपनी वेणियों में गांठ देकर उसको अपने सिर पर मुकट के समान रखती थीं—इसको शिखा या चूड़ा कहते थे।

बाज स्त्रियां सिर से लटकती अपूर्व सुन्दर लटें[4] रखने का शौक भी पूरा करती थीं।

मेघदूत का यक्ष बादलों से कहता है कि उसे यक्ष की प्रिया का मुख स्पष्टता से दिखाई नहीं देगा क्योंकि उसकी प्रिया का मुखड़ा तो लटकती लटों के कारण ढका हुआ होगा।

अमरकोष के अनुसार अलक का आशय 'चूर्णकुन्तल' है अर्थात् बालों को अलक कह कर स्वयं अलक की व्याख्या 'वलीभूत'[5] शब्द द्वारा की गई है। इसके लिये प्रसाधिकाएं बालों में भांति-भांति के अवलेप प्रयोग करती थीं जिससे छल्ले सरलता से बालों को मोड़ मोड़ कर बनाए जा सकें। पति के विरह में यक्षिणी के केशों

विध्व हे शठ पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरघुकचग्र हैः

1 रघु० ४/६३

2 रघु० १३/७१, अभि० अंक ६

3 इया मास्पंङ्ग चकितंहरिणी वृक्षणे दृष्टिपातस्
वक्गच्छजायां शशिनि शिखिनां बह भारेपु केषान् उ० मे० ४६

4 हस्तन्यरतं मुखमसकल व्यक्तित लम्बालकत्वा
पिन्दोदैव्यं त्वदुपसरणक्लिष्ट कान्तेर्बिमति उ० मे० २४

5 कुसुमोत्खायितान्वली भृतश्चलयन् मृङ्गरचस्तवालकान्
करुभोरु करोति मारुत स्त्व दुपावंतन शंकि मे मनः
रघु० ८/५३

के लिये कवि 'लम्बालक'[1] शब्द का प्रयोग करते हैं। अर्थात् विरह में परित्यक्ताओं के केश लम्बे होकर बार-बार कपोलों पर आ जाते थे। कालिदास लिखते हैं कि घुंघराले बाल बनाने की विधि स्त्रियों को अधिक प्रिय थी। कवि ने रघुवंश के आठवें सर्ग में इन्दुमती के केशों के लिये 'अलक' शब्द का प्रयोग किया है।

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने घुङ्घराले बालों को बनाने के कई प्रकार बताये हैं, जिनका वर्णन कवि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किया है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

१ कुटिपाटियां—मांग के दोनों ओर कनपटी तक लहराती हुई शुद्ध पटियां मिलती हैं। वे ही छोर पर अदर को मुड़ कर छुप जाती हैं। कालिदास को केशों की यह रचना विधि बहुत कुछ मोर की फहराती पूंछ सदृश जान पड़ती है। इस रचनाविधि का वर्णन मेघदूत में यक्षिनी के बालों के लिये मिलता है।

चूड़ापाश :—आजकल का जूड़ा शब्द इसी 'चूड़ा' शब्द का रूपान्तर है। इसमें मांग के दोनों ओर बालों से बनी हुई पटियां ही सिर के पीछे जूड़े के रूप में बांध दी जाती थीं—जूड़े के लिये कालिदास के ग्रन्थों में 'वेणी बन्धन'[2], 'अलक संयमन'[3], 'केश-बन्धन'[4] आदि शब्द मिलते हैं—अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अंक में जूड़ा[5] खुल जाने से शकुन्तला की लटें बिखर जाती हैं—जिन्हें वह बड़ी कठिनाई से सम्भाल पाती है। इससे प्रतीत होता है कि जूड़ा खुले बालों का भी बनाया जाता था। पर 'वेणी बन्धन'[6] शब्द से लगता है कि चोटी का भी जूड़ा बनाया जाता था।

छतेदार केशरचना :—लगता है कि इस केशरचना का नामकरण शहद के छत्ते की भांति 'झाझीदार' होने से पड़ा हो—संस्कृत

---

1 कला और संस्कृति नामक पुस्तक से उद्धृत
2 रघु०—१० / १७
3 विक्रमो०—३ / ६
4 अभि०—अंक ६
5 अभि०—१ / २८
6 रघु०—१० / ४७

में इस रचना को 'क्षोद्र पटल' या 'पघुपटल' विन्यास कहा जा सकता है। कालिदास ने पारसी के दाड़ीदार श्मश्रुल सिरों की उपमा 'क्षौद्रपटल'[1] से दी है।

मौलि :—इसमें बालों का जूड़ा बना कर माला से बांध लिया जाता था। मौलि[2] के भीतर फूलों की माला गून्थ ली जाती थी। मांग निकाल कर दोनों ओर फूले हुये बाल बनाने का उल्लेख मेघदूत में मिलता है।

केशमण्डन :—कालिदास ने अपने ग्रन्थों में केशमण्डन के विषय में भी लिखा है। वह कहते हैं कि तत्कालीन स्त्रियां मांग को अरुषचूर्ण से संवारा करती थीं। रघुवंश[3] में इसका उल्लेख मिलता है। मांग को फूलों[4] से भी सजाया करती थीं। जूड़े को सजाने के लिये भी प्राय: पुष्पों[5] का प्रयोग होता था। अथवा वैसे ही केशों को[6] फूलों से संवारा जाता था। स्त्रियां कभी-कभी मुक्ता जाल से भी अलकों को सजाया करती थीं[7]। सिर में कुटवक (उ० मे० २), नवकदम्ब, नवकिशोर और केतकी के फूलों की मालाएं धारण करती थीं। (ऋतु०–२/२१) कभी मधूक की (कु० ७/१४) एक ओर वर्षा ऋतु में केश पाशों को पुष्पावतरन करने का चाव पूरा किया जाता था। (ऋ० २/२१) तो दूसरी ओर शरद् में

---

1 मल्लाप वर्जितस्तेषां शिरोभि श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तारं सरधाव्याप्तै: स क्षोद्रपटलैरिव। रघु० ४/६३

2 तेऽस्यमुक्तागुणोन्वद्धं मोलिभन्तर्गत स्रजम। रघु०—७/२३

3 वक्तेतराग्रैरल कैस्तरूग्व्यश्चूर्णारुणन्वारित्व वान्वभन्वि।
रघु० १६/६६

4 उत्तर मेघ०—२

5 आलो कमार्ग सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्धेष्टनवान्तमाल्य:
बिन्द्धु न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाश:॥
रघु० ७/६

6 कुमार० ५/१२, ७/१४, ८/७२, वि०—४/४२, ४६,६१, उ० मे० २, ऋतु २/२१, २२, २५, ३/१९, ५/८३, ६/३३, रघुवंश ९/६७

7 पूर्व मेघ०—६७, रघुवंश—१७/२३

में घनी काली लटों में मालती के फूल गून्थे जाते (ऋतु० १२/१६) बसन्त में शृङ्गार के लिए बहुत उपयुक्त होने के कारण स्त्रियां इस ऋतु में चम्पा की माला से केश सजाती थीं (ऋतु० ६/३) कालिदास की सर्वसुन्दरी उर्वशी जूही तथा रक्त कदम्ब से केश सजाती थी (वि० ४/४६, ६१) अशोक और नव मालिका के फूल भी केश सौन्दर्य के लिये उत्तम थे (ऋतु० ६/६) नीप पुष्प से सीमन्त अलंकृत किया जाता था। (उ० मेध०—२)

इस प्रकार 'मुक्ताजालग्रथितमलकं,[1] स्पष्ट करता है कि बालों में मोतियों की लड़ियां गून्थी जाती थीं। केवल पुष्पों से ही केश सौन्दर्य नहीं बढ़ाया जाता था अपितु नाना प्रकार के चूर्ण भी केशों को सुरभित करने के लिये प्रयोग में लाये जाते थे। स्त्रियां अपने बालों को काले अगरू[2] एवं धूप[3] से सुगन्धित रखती थीं। कस्तूरी[4] का चूर्ण भी कदाचित बालों को सुगन्धित करने के लिये प्रयोग में लाया जाता था। अलक[5] चूर्ण का भी वर्णन कवि ने कुमारसम्भव में किया है। कालिदास लिखते हैं कि कस्तूरी चूर्ण का अधिकतर प्रयोग केरल[6] की महिलाएं ही करती थीं।

उपरोक्त विवेचन से भली भांति स्पष्ट है कि कवि कालिदास के समय में केशरचना[7] का एक विशिष्ट महत्व था।

[राजकीय महिला महाविद्यालय, गांधी नगर, जम्मू]

---

1 या वः काले वहति सलिलद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनी वाभ्रवृन्दम्—(पूर्व मे० ६७)

2 पू० मेघ०—३६, ऋतु ४/५, ५/१२

3 कुमार०—७/१४, ऋतु० ५/१२, रघु० १६/५०, १७/२२

4 मयोहसृष्ठभूषाणां तेन केरलवयोषिताम।
अलेषुचमूरेणुश्चूर्ण प्रतिनिधीकृतः॥ रघु०—४/५४

5 कुमार सम्भव—३/१६

6 रघु०—४/५४

7 ऋतु०—४/१०

कहां सुख

—शंकर शर्मा 'पिपासु'

वेदना को भी कहां सुख !

अश्रु से हो व्यथित किसी का
दग्ध जल उर—आंच से क्यों
बिन्दु सन बन बन निकलता
यह सुनाते सूखता मुख !
वेदना को भी कहां सुख ?

जलद पट में जब कभी भी
तड़ित तड़पाती जलद को
तड़ित भी खुद तड़प जाती
दु:ख फिर लेती समझ सुख !
वेदना को भी कहां सुख ?

शून्य उर के घाव तारक
आज जो दिखते निरन्तर,
क्या इशारों से नहीं वे
हैं सुनाते आज निज दुख ?
वेदना को भी कहां सुख !

[रामतलाई, मोहल्ला जुलाहका, जम्मू]

मैली चांदनी

—राजेन्द्र बिन्द्रा

पूनम की रात
छिटकी छिटकी चाँदनी के किनारे किनारे—
भटके भटके पाप के सायों को
सेंध लगाते देखा;

हत्याओं, षड्यन्त्रों के बीज उगाते देखा—।
विवशता के गर्भ से दूषित पौध उगाते देखा—
चाँदनी के किनारे किनारे।

चांदनी के किनारे किनारे !
अंधियारे— गलियारे—।
यौवन की अधखिली कलियों को
फिसलते देखा,
मसलते देखा,
कुचलते देखा—
चाँदनी के किनारे किनारे।

मैं इन अवश—पाप के सायों को जानता हूँ,
पहचानता हूं।

तभी—इस दूषित हुई, मैली कुचैली;
कलुषित हुई, कटी फटी
चाँदनी, को समेट कर
मैं खड़ा सोचता हूँ—

कब सवेरा हो ! सूरज निकले
दूर अंधेरा हो ! सूरज निकले
दिन मेरा हो ! सूरज निकले
और नये प्रभात में—उजियारी किरणों से इसे धो डालूं !

[बडयारवाला, श्रीनगर]

★'शीराज़ा'—

(हिन्दी) का जून 1974 अंक
"जम्मू-कश्मीर - लोक-संस्कृति-विशेषांक" होगा।
फरवरी 1974 के अंत तक आपकी रचनाओं की प्रतीक्षा रहेगी !

—सम्पादक

खाली बोतल

—डॉ० नरेश

आज पहली वार ऐसा हुआ है कि मेरा घर जाने को मन न किया हो। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ। पांच बजे ऑफ़िस से छुट्टी होती है तो सीधा घर की ओर भागता हूं। रास्ते में रुकना ही नहीं चाहा कभी। लेकिन आज दफ़्तर में बैठा सोच रहा था कि काश कोई ऐसा सरकारी काम आ पड़े कि मुझे फ़ौरन शहर से बाहर भेज दिया जाए। या फिर कोई बहुत ही इम्पॉरटेण्ट फाईल कम्पलीट करने का आर्डर मिल जाए। कोई ऐसा केस जिस पर कलम घिसते घिसते, फाइलों के पन्ने उलटते पलटते रात हो जाए। दस साढ़े दस बजे दफ़्तर से निकलूं और कहीं जाकर सो रहूं। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। पांच बजते बजते एक एक करके दफ़्तर की सभी कुर्सियाँ खाली होने लगी थीं और मैं उसके बाद पांच मिनट भी अपनी सीट पर बैठा न रह सका था। उठ कर थके मन से सीढ़ियां उतरने लगा था। सीढ़ियाँ उतर कर सड़क पर बढ़ते हुए मेरे थके पांव मुझे सोमेश के घर ले आए थे।

सोमेश का घर पूरे का पूरा मुझ से परिचित है। घर की सभी दीवारें, दीवारों पर लगी सभी तस्वीरें, तस्वीरों में ढले सभी लोगों से मैं परिचित हूं। कुछ भी अजनबी नहीं है। सोमेश अभी घर नहीं लौटा था। भाभी ने गर्म चाय का एक प्याला लाकर मेज

पर रख दिया था और मैं तिपाई पर टांग फैला कर, सोफ़े में धंस गया था।

सोमेश अभी तक नहीं लौटा है। भाभी को कोई परेशानी नहीं है। वह रसोई घर में खाना बनाने में व्यस्त है। उसे सोमेश की आदतों का पता है और वह इन आदतों से समझौता कर चुकी है। सिगरेट का अन्तिम अंश, उठकर ऐशट्रे में बुझाने लगता हूँ तो मुझे रसोई घर से भाभी की झलक दीख पड़ती है। काश मैंने अपनी पत्नी को दार्जिलिंग न भेजा होता। उसके बिना मैं कितना सूना सूना, कितना अकेला, कितना तनहा अनुभव कर रहा हूं। वह जब कभी भी कहीं गई है, मैं कई कई दिन तक उदास रहा हूं। कोई हंसी, कोई खुशी, खुशी देने वाली कोई घटना भी मुझे बहला नहीं सकी है। दो तीन दिन बीत जाने के बाद मैं शनै: नै: हालात से समझौता करने लगता हूं। उसकी कमी का अहसास घटने लगता है। फिर भी मैंने उसके कहीं जाने पर कभी आपत्ति नहीं की है। इतना प्यार देने वाली, मुझ पर जान छिड़कती हुई इस औरत को मना करने का साहस ही नहीं कर पाया हूँ कभी।

लेकिन आज मैं सचमुच पछता रहा हूं। इस बार मैं उसे रोक सकता था। वह स्वयं भी वहां जाने के लिए ऐसी उत्सुक नहीं थी। मेरी हां न होती तो शायद उसे बुरा भी न लगता। लेकिन मैंने सोचा इसकी छोटी बहन लेने आ ही गई है तो क्यों न दस पांच दिन घूम आए। लेकिन तब मुझे यह मालूम नहीं था कि कोई उसके वियोग का पवित्र एकान्त मुझसे छीनने का प्रयास करेगा। नहीं जानता था कि किसी की दो बड़ी-बड़ी स्याह आंखें ड्राइंग रूम से लेकर किचन तक का जायज़ा लेंगीं और किसी का लाया हुआ मेवों से भरा लिफाफा मेरे फ्रिज पर पड़ा मुस्कुराएगा। मुस्कुराते मुस्कुराते गुनगुनाने लगेगा और इसकी यह गुनगुनाहट इतनी तीव्र, इतनी कर्णवेधक होगी कि मेरे एकान्त का सीना छलनी होने लगेगा।

मैं उसे नहीं जानता था। कल सवेरे सवेरे मेरे दरवाज़े पर दस्तक हुई थी। मैंने उठकर दरवाज़ा खोला था। सफ़ेद साड़ी

में लिपटी हुई किसी औरत की दो बड़ी बड़ी काली स्याह आंखों में मुस्कान नाच उठी थी।

"आप गोपाल जी हैं ?"

"कहिए.........अन्दर आइए ना।"

और सोफ़े पर बैठ कर, पहली नजर में ही कमरे का जायज़ा लेकर उसने कहा था—

"बड़ा खूबसूरत ड्राइंग रूम है आपका।"

मैं हैरान था।

"क्षमा कीजिए मैंने आप को........."

"पहचाना नहीं ? मैं सामन्त की बहन हूं।"

"ओह ! कहिए कब आईं आप ?"

"कल।"

"कैसे आना हुआ इधर ?"

"मेरे एक रिश्तेदार यहां अस्पताल में दाखिल हैं। उनकी तीमारदारी के लिए आई हूं।"

"कहां ठहरी हैं आप ?"

"कहीं भी नहीं।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि जहां ठहरी हूं, वह जगह ही ऐसी है कि मुझे यह अनुभव नहीं होता कि मैं वहां ठहरी हुई हूँ।"

"ओह।"

कुछ क्षणों की बोझल चुप के बाद वह उठ खड़ी हुई थी। सामने वाले मेज़ पर पड़ी कंघी उठा कर उसने अपने बालों को थोड़ा संवारा था संवारने का अभिनय किया था। और कहा था—

"अच्छा तो चलूं ?"

"अरे चाय-वाय तो पीजिए कुछ।"

"नहीं, चाय की इच्छा तो नहीं है।"

ग्रौर वह काफी शिष्टता से नमस्ते कह कर चली गई थी। सीढ़ियां उतरते हुए उसकी गति इतनी धीमी थी कि लगता था जैसे उसका हर कदम ग्रागे बढ़ने की बजाए पीछे लौट रहा हो। वह ग्रभी सीढ़ियों में ही थी कि मैंने घबरा कर दरवाज़ा बन्द कर लिया था। मैं उस सारे एकान्त को, एकान्त की उस पवित्रता को, एकान्त के उस एकाधिकार को समेट लेना चाहता था, जिसे उसकी सांसों ने, उसकी ग्रांखों ने, उसकी बातों ने भंग किया था।

कल दफ़्तर से घर लौटा था तो मैंने बीच कमरे के खड़े हो कर दो तीन लम्बे लम्बे सांस खींचे थे। लगभग विश्वास सा हो गया था कि मेरा एकान्त खण्डित नहीं हुग्रा है। एलबम उठाकर मैंने ग्रपनी ग्रौर ग्रपनी पत्नी की तस्वीरें देखना शुरू की थीं। उन क्षणों की तस्वीरें जिन्हें हमने जिया था, भोगा था। एक एक तस्वीर से नज़र चिपक चिपक रही थी। सभी तस्वीरें देखने के बाद मैंने एलबम छाती से लगा ली थी। एलबम से निकल कर एक ग्रद्‌भुत सी गंध मेरे नथुनों में घुसने लगी थी। मैंने मुंह उठा कर कमरे में फैली साधारण गंध को सूंघ कर दोनों के बीच के ग्रन्तर को पकड़ना चाहा था। मगर उस समय पूरे कमरे में वही गंध फैली हुई थी। मेरी पत्नी के शरीर की गंध। ग्रौर मैं जैसे उस गंध में नहा सा रहा था।

ग्रचानक किसी की ग्रंगुलियों ने फिर दरवाज़ा खटखटाया था। उठकर देखा, वही थी। कमरे में ग्राकर वह उसी जगह बैठ गई थी, जहां सुबह बैठी थी। ग्रब भी उसकी निगाहें कमरे का जायज़ा ले रही थीं। मेरे श्वासों में घुल रही मेरी पत्नी के शरीर की गंध ग्रचानक गायब हो गई थी। ग्रब कमरे में गंध तो थी, नारी-शरीर की ही गंध थी, परन्तु वह नारी मेरी पत्नी नहीं थी, सामन्त की बहन थी; सगी नहीं, चचेरी मौसेरी भी नहीं, मुंहबोली भी नहीं, कहने भर की बहन।

"ग्राप पांच बजे ग्रा जाते हैं दफ़्तर से ?"

"नहीं पांच बजे तो छुट्टी होती है, सवा पांच तक घर पहुंचता हूं।"

"भाभी कब आ रही हैं ?"

"अगले सप्ताह लौटेंगी।"

"आपको खाने-वाने की बहुत दिक्क़त होती होगी।"

"नहीं ऐसी कुछ विशेष दिक्क़त नहीं होती। दोपहर का खाना तो दफ़्तर के पास वाले एक होटल में खा लेता हूं और शाम का खुद बना लेता हूं। समय भी तो काटना होता है।"

फिर एक बोझल परन्तु क्षणिक चुप हम दोनों के बीच चली आई थी। मैं इस चुप के बोझ तले दबा, सहमा सहमा अनुभव कर रहा था। अतः उठते हुए मैंने कहा—

"आप बैठिए मैं चाय बना कर लाता हूँ।"

"अरे अरे क्या कर रहे हैं आप ? आप बैठिए न, मैं बनाती हूं।"

और मेरी हां-न के लिए समय की गुंजाइश न छोड़ कर वह किचन में चली गई थी। गैस का स्विच ऑन करके उसने पानी चढ़ा दिया था। मैं थोड़ी देर तक किचन की बैड-रूम में खुलने वाली खिड़की में से उसे देखता रहा था। उसके गुनगुनाने का धीमा स्वर किचन की तरफ़ से आने वाली पुरवाई के साथ मेरे कानों तक पहुंच रहा था। एलबम मेरे पास वाले मेज़ पर पड़ी हुई थी। मैंने जल्दी से उसे उठा कर अलमारी में बन्द कर दिया था।

चाय पीने के बाद उसने जिन निगाहों से मेरी ओर देखा था उनका वर्गीकरण या विश्लेषण सम्भव नहीं। हां मेरे लिए उन्हें सहन करना बड़ा कठिन था। वह शायद अपनी ऐसी निगाहों के प्रभाव से परिचित थी। इसीलिए उसने बड़ी तेज़ी से नज़रें घुमा कर कहा था—

"अच्छा तो चलूं ?"

"जी........"

"चलूं अब देर हो रही है।"

और वह दरवाज़े तक बढ़ गई थी। मेरे मन में एक बार आया था कि कह दूं—यदि ठहरने का कहीं ठीक प्रबन्ध नहीं है तो यहां आ जाइए। लेकिन मेरे नथुनों ने जिस गंध-परिवर्तन को अनुभव किया था, उसने कहने न दिया। वह दरवाज़े तक जाकर पलट आई थी।

"मिट्टी का तेल तो होगा घर में ?"

"जी..........."

"वही लेने आई थी। कोई बोतल हो तो दीजिए।"

और मैंने किचन में जाकर मिट्टी के तेल की बोतल भर दी थी। उसने बोतल लेकर मेरा शुक्रिया अदा किया था और वैसी ही चाल से सीढ़ियां उतर गई थी, जैसी चाल से सुबह उतरी थी।

आज घर जाने का मन नहीं हो रहा है। अपने एकान्त पर कोई और प्रहार सहने की कल्पना भी मेरा मन गवारा नहीं कर रहा है। लेकिन सोमेश अभी तक नहीं लौटा है। भाभी खाना पका चुकी है। बिट्टू के मुंह में बोतल टिका कर वह उसे बाहों में झुला रही है। बैठे बैठे घबरा सा गया हूं। अब क्या ज़रूरी है कि वह फिर मेरे घर आए ? सोमेश के रहते और बात है। इतनी देर अकेले यहां बैठे रहना उचित प्रतीत नहीं होता। उठकर चलने लगता हूँ तो भाभी आवाज़ देती है—

"कहां चले भाई साहिब? आते ही होंगे वे, खाना तैयार है।"

"अभी आ जाऊंगा थोड़ी देर में भाभी।"

भाभी को ऐसा चकमा पहले भी कई बार दे चुका हूँ। कह कर नहीं पलटता। वह मेरी आदत से भी परिचित है परन्तु बड़ी भोली है। हर बार बातों में आ जाती है, धोखा खा ज़ाती है।

थके हारे बोझल कदमों से घर तक पहुँचता हूं। साथ के मकान से एक अधेड़ उम्र की औरत निकल रही है। उसकी सफ़ेद साड़ी ही देख पाया हूँ। दिल धक सा रह गया है। लेकिन वह पड़ौसिन ही है। सुख का एक लम्बा परन्तु उलझा हुआ सांस लेता

हूं। धीरे धीरे सीढ़ियां चढ़ता हूं। जेब से चाबियों का गुच्छा निकाल कर मेरी अंगुलियां यन्त्रवत् कमरे की चावी तलाश कर लेती हैं। ताला खोलने लगता हूं तो पैर बोतल से टकरा जाते हैं। वही बोतल जो कल मिट्टी के तेल से भरी थी। जिसे वह ले गई थी। बन्द किवाड़ों के बाहर वही खाली बोतल पड़ी हुई है। मेरे पैरों से लुड़क गई है। उसका ढक्कन थोड़ी दूरी पर जा गिरा है। और मिट्टी के तेल की गंध मेरे नथनों को छूती हुई महसूस हो रही है।

[पंजाब विश्वविद्यालय, पत्राचार पाठचक्रम, चण्डीगढ़—१४]

हृदय की बात

—निर्मल विनोदी

वासना से अछूता हूं मैं
—गर्वोक्ति नहीं कर सकता
और—
प्यार किसे कहते हैं—
मैं नहीं जानता—ऐसी बात भी नहीं है।

एक तो आदम औ' हव्वा का वंशज
(या कह लो—मनु की सन्तान)
प्रकृति की माया कह लो
या कह लो—
मुझे शान्ति से जीने नहीं देगा—
शैतान !

सोचता हूं
मेरा तो भगवान ही रक्षक है
(आज का युग और भगवान ?
चौंकिए नहीं
विश्वास मजबूरी का सम्बल है !)
वासना से दूर भागता हूं—
(बुद्ध की तरह प्रस्थान नहीं करता—)

उसी अन्धेरी कोठरी में—
बार - बार
जहां एक तकिया
मेरे आंसू
सोखने को
रहता है बेकरार
उस प्रेमिका की भान्ति—
जो मेरी मजबूरी और कायरता से
हमदर्दी करने लगी है।

लेकिन—
दिन का शीशा—
सूरज को मेरी आंखों पर दे मारता है
और फिर
डरा-डरा भाग खड़ा होता है
उस बालक की भांति
जिस की एक मुट्ठी में
दुपहर की आग में दहकती रेत
और दूसरी में
किसी के कार्निश से चुराया
कागज़ी फूलों का गुलदस्ता हो।

सबूत तो निर्दोष को भी
दोषी ठहरा देता है
और!
फिर ऐसा दोषी
(कि) जिसकी मुट्ठियों में
सबूत नाच रहा हो
(छज्जे से चिक उठा कर
नीचे—
गली में झांकती युवती सा)

भागते - भागते
धूल में लिथड़ जाना

स्वाभाविक ही सही
किन्तु मेरी अपनी भी तो—
कुछ मान्यताएं हैं—
(किसी
साइकियाट्रिस्ट की नज़र में
ये गहरी कुण्ठाएं हैं—
सही है—)

मगर—
हे संस्कारों के आदिम देवताओ !
किसी के निर्मल स्नेह का
शतांश ही सही
मेरे भीतर कायम रखो !

ईश्वर,
तुम
औ'
प्यार—
मिल कर
मुझे बचा लोगे—
हृदय कहता है

और—
सुना है—
हृदय मेरी तरह झूठ नहीं बोलता ।

[३८६, कोटली बस्ती, जम्मू (तवी) ।]

वैष्णव-संस्कृति और हिन्दी साहित्य

डा० शिवनन्दन कपूर

वैष्णव-धर्म या भागवत-धर्म के अनेक नामों का उल्लेख 'पाद्म तन्त्र' में हुआ है। उसमें भागवत, सात्वत, एकान्तिक, तन्मय, पांच-रात्रिक आदि अनेक नाम उल्लिखित हैं[1]। यादव क्षत्रियों की सत्वत शाखा में इसका प्रचार होने से इसे 'सात्वत' कहा गया। 'महाभारत' में संकर्षण द्वारा वासुदेव की पूजा 'सात्वत' पद्धति से करने का उल्लेख है[2]।

'महाभारत' में इसके 'पांचरात्र' संज्ञक होने का संकेत है। शान्ति-पर्व में चार प्रकार के ज्ञान वर्णित हैं, सांख्य, योग, पांचरात्र तथा आरण्यक[3]। इसका नाम 'पांचरात्र' पड़ने के अनेक कारण हैं। इसके उपास्य नारायण ने पांच शिष्यों को पांच रात्रियों तक पांच प्रकार के उपदेश दिये थे। वे हैं—ज्ञान-काण्ड, साधनापद्धति, विग्रह-विवेचन, अर्चा-विधान एंव आचार-काण्ड। 'रात्र' शब्द 'ज्ञान' का

---

1 सूरि सुहृद भागवतः सात्वतः पंचकालवित्।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि॥ पाद्म-तन्त्र ४-२-८८

2 महाभारत; भीष्म-पर्व ६०७।३८,४१

3 सांख्य योग; पांचरात्रं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह॥ महा०; शांति-पर्व ३४९।१

अभिव्यंजक है। 'पांचरात्र' के प्रमुख ग्रंथ 'नारद पांचरात्र' 'में भी इसकी पुष्टि है[1]। तदनुसार परम तत्व मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय। संसार, एतद् विषयक ज्ञान की प्रमुखता पांचरात्र में है। शतपथ ब्राह्मण 'में यज्ञ-विशेष' को भी पांचरात्र की संज्ञा दी गई[2]। वह भी पांच रातों में इस धर्म की व्याख्या होने का सकेत करता है। महाभारत शान्ति-पर्व के अनुसार, चार वेदों और सांख्य योग के समावेश के कारण 'नारायणीय महोपनिषद भी पांच रात्र है[3]। ।ईश्वर संहिता, 'परम संहिता, 'विष्णु संहिता 'आदि में भी इसकी व्याख्या है। जैन-ग्रन्थों में भागवत धर्म के उपास्य वासुदेव का उल्लेख है[4]। ।बौद्ध-साहित्य में चुल्ल निदेस में भी इसका वर्णन है। चौथी शती में लिखित अष्टाध्यायी 'भी वासुदेवकों का वर्णन करती है।[5] इससे इस संप्रदाय के जैन, या बौद्ध-आन्दोलन के भी पूर्व होने का प्रमाण मिलता है। २०० ई० पू० वैक्ट्रिया के राजदूत हेलियोडोरस ने गरुड़स्तंभ की स्थापना की थी। उसने भी भागवत धर्म में दीक्षा ली थी। ई० पू० प्रथम शती के लेख भी वासुदेव का उल्लेख करते हैं। इससे लगत है कि भागवत-धर्म पहले वासुदेव धर्म के रूप में विख्यात था।

"कूर्म-पुराण" पाशुपत, शाक्त, भैरव आदि के सदृश 'पांचरात्र' को भी निंद्य एवं अवैदिक घोषित करता है। ऐसा लगता है, प्रारंभ में आभीरों से प्रवर्तित यह धर्म ब्राह्मणों द्वारा उपेक्षित रहा। फिर अधिक प्रचार होने पर उन्होंने भी इसे अपनाया। वैदिक यज्ञों में विश्वास रखते हुए भी वैष्णवों ने उसे अहिंसात्मक रूप दिया। 'महाभारत' के शान्ति-पर्व में वैष्णव-ऋतु या यज्ञों का

---

1 'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतं; नारद पांचरात्र १।४४,४५,५२

2 शतपथ ब्राह्मण, १३,६।१

3 इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितं।
सांख्ययोगकृतं तेन पंचरात्रानुशब्दितं।
नारायणमुखोद्गीतं नारदो श्रावयत पुनः ।। शांति पर्व ३३९।११,१२

4 वसुदेव हिण्डी उत्तराध्ययन सूत्र २२

5 वासुदेवार्जुनाभ्यां वुनः ४।३।९८

संकेत है[1]। कलियुग में ऐसे देश में निवास करने का निर्देश है, जहां वेद-मर्यादा के साथ तप, सत्य, संयम आदि की प्रधानता हो[2]। नारायण के चरणों में सर्व कर्मों का अर्पण भक्त का 'एकांत-धर्म' मानने के कारण, इसे 'एकान्तिक' भी कहा गया है[3]।

कई विद्वान् इसके मूल उपास्य के रूप में सूर्य की कल्पना करते हैं। वैष्णव धर्म के आराध्य वासुदेव हैं। वे नारायण के प्रतिरूप हैं। नारायण, या विष्णु सर्वत्र-व्यापी हों, वेदेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः। वे समस्त प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप में, और बाहर गुरू रूप में स्थित हो, सारे पाप-ताप मिटा देते हैं, तथा वास्तविक रूप को उनके समक्ष प्रत्यक्ष कर देते हैं[4]। वासुदेव की भी परिभाषा करते हुए कहा गया है, जो सब में वास करता है, या जिस में समस्त विश्व का वास है, वह 'वासुदेव' है। सूर्य भी स्व-रश्मियों से विश्व-व्यापी है। विष्णु और सूर्य की एकता भी स्थापित की गई है। 'गीता' में कृष्ण वृष्णियों में वासुदेव तो आदित्यों में विष्णु कह कर, अपना परिचय देते हैं[5], [6]।

वासुदेव को ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य तथा तेज इन छः गुणों से युक्त किया गया है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये चार इसके 'व्यूह' माने गये हैं। इस प्रकार इसका व्यूह या विस्तार वासुदेव के परिवार में है। 'महाभारत' में वैदिक विष्णु की नारायण या वासुदेव से एकात्मता स्थापित हुई। अनेक ग्रन्थों में कृष्ण के द्वितीय वासुदेव के रूप में अवतरित होने का संकेत है।

---

1 वेददृष्टैन विधिना वैष्णवं क्रतुमाहरन। 'महाभारत', शान्ति-पर्व, ३४०/५

2 यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा।
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमः।। 'वही', ३४०/८८,८९

3 एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः। 'वही', ३४८/८२

4 योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनपक्ति। 'भागवत', ११/२९/६

5 वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि; 'गीता', १०/३७

6 आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्; 'गीता', १०/२१

भागवत या वैष्णव धर्म का पूर्ण परिपाक गुप्त-काल में हुआ। दक्षिण में इसका रूप नाथ मुनि (८२४—९२४) द्वारा संकलित, आलवार-रचनाओं—'तेवारम्' तथा 'प्रबंधं' में दिखाई देता है। आलवारों का क्रम इस प्रकार है—पोगई, पुद्म, (मत) पह तिरुमलिसै नाम (शठकोप) मधुकर, पेरिय, (विष्णुचित्त), गोदा (अण्डाल), तोण्डरदिप्पोडिड, तिरुप्पाणर, तिरुमंगइ। इनमें प्रपत्ति या शरणागति का भाव प्रस्फुटित हुआ है। १३वीं शती में कर्णाटक में इसने विट्ठल-भक्ति का रूप ग्रहण किया। दास्य-भाव के उपासक दासकूटों के पदों में भी यह पल्लवित हुई।

१४वीं से १९वीं शती तक महाराष्ट्र, गुजरात, पंचनद, उत्कल, आसाम, बंगाल आदि तक वैष्णव-धर्म का प्रचार हो गया। इसे शास्त्रीय रूप देने वाले अनेक आचार्य समय - समय पर हुए। आचार्य रंगनाथ (नाथ मुनि, ८२४–९२४ ई०) यामुनाचार्य, रामानुज (१०१६–११३०) मध्व (१२००—१२७६) विष्णु स्वामी उनमें विशेष विख्यात रहे। यदि रामानुज ने इसके अन्तर्गत "श्री वैष्णव" संप्रदाय स्थापित कर लक्ष्मी-नारायण की उपासना प्रचलित की, तो मध्वाचार्य ने कृष्ण-भक्ति में निष्ठा व्यक्त की। गौड़ीय वैष्णव भी माध्व-मत के अनुयायी रहे। तदतिरिक्त हरिवंश, हरि-व्यास, हरिदास आदि अनेक आचार्य हुए। वैष्णव-धर्म के प्रख्यात चतुः संप्रदाय श्री, सनक, ब्रह्म, रुद्र हैं। श्री से रामानंदी तथा उन से भी 'तपसी', 'विरागी' आदि मतों का प्रवर्तन हुआ। ब्रह्म से चैतन्य और रुद्र से 'वल्लभ' संप्रदाय उद्भूत हुए।

महाराष्ट्र में वैष्णव-भक्ति विठोवा को उपास्य मान कर पण्ढरपुर को केन्द्रित कर, प्रचलित हुई। 'वारकरी' संप्रदाय पर गोरख के योग का भी प्रभाव था। नामदेव (१२७०–१३५०) से पद-परम्परा चली। १५वीं शती से पंजाब, तथा १५वीं शती के बाद राजस्थान में वैष्णव-धर्म का सूत्रपात हुआ। १७वीं शती में श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा से राजस्थान भी वैष्णव-धर्म का क्षेत्र हुआ। बंगाल में 'सहजिया', आसाम में 'महापुरुषिया' उड़ीसा में 'पंचसखा' मतों का जन्म हुआ। बंगाल में इसके विशेष प्रचार के आधार पर

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने बंगाल से वैष्णव-धर्म के सूत्रपात की कल्पना की।

मध्य-युग में विदेशी भोगवाद के व्यापक प्रसार के विरुद्ध रामानंद तथा वल्लभाचार्य जी ने जनवादी वैष्णव-संस्कृति को जन्म दिया। दर्शन, संप्रदाय, आराधना सभी में समन्वय इसकी प्रमुख विशेषता रही। "ब्रह्म-सूत्र, गीता, और उपनिषद का तत्वज्ञान इस संस्कृति का मस्तिष्क है। 'भागवत' और आध्यात्म उसका हृदय है। षोडशोपचार उसकी पूजा-पद्धति है, और वर्णाश्रम-धर्म उसका लोक - व्यवहार है। पुरातन विभिन्न साधनायें विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न रूप धारण करके उदित हुई हैं और मधुर भाव (शृङ्गार भक्ति) वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि सभी दृष्टिकोणों से साधना बलवती हुई है, यहां तक कि मीरा की दांपत्यभावा और चैतन्य की महाभावा शृङ्गारिक भावना का भी उसमें समाहार है। पौराणिक व्रतोपासन इस वैष्णव संस्कृति के कर्मकाण्ड हैं[1]। इस संस्कृति की अनेक विशेषताओं की व्यंजना हिन्दी - साहित्य में हुई है।

सात्विकता–

मध्य-युगीन विलासिता के परिवेश में वैष्णव-संस्कृति ने सामान्य-जन को सतोगुण की प्रेरणा दी। सात्विक भावनाओं की उज्ज्वल ज्योति में न केवल समस्याओं का समाधान हो सका, अपितु भावी पीढ़ी के लिए आत्मबल की एक निधि, एक धरोहर भी सुरक्षित हुई। अपेक्षा केवल उसके सचेत होकर उपयोग की है। तन की अपेक्षा मन की, मानवता की उन्नति की ओर सचेष्टता हुई। प्रेम को प्रमुखता मिली[2]। व्यास ने जाति-पाँति का विरोध

---

1 "मध्ययुगीन वैष्णव-संस्कृति और तुलसीदास"
डा० भटनागर, पृ० २७

2 प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमहीं, बांणी फूटी बास॥
"कबीर-ग्रंथावली", पृ०–१३

किया[1]। इसके लिये उन्होंने 'भागवत' का आधार लिया।

अहिंसा–

वैष्णव-धर्म में व्याप्त अहिंसा का इस संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अहिंसा वैष्णव-संस्कृति की पर्याय हो उठी। सामाजिक जीवन की शब्दावली पर भी इसने प्रभाव डाला। 'गोभी' को 'कोभी' कहा जाने लगा। 'माष' त्याज्य भोजन हो गया। कई स्थानों पर तरकारी 'काटने' के स्थान पर 'सँवारने' का प्रयोग प्रचलित हुआ। उनकी दृष्टि में वैष्णव की कुटिया शाक्तों के सर्व-सुख-सम्पन्न गांव की अपेक्षा सदैव, अहिंसा-भावना के कारण, सुखदायिनी रही[2]। हिंसक हिन्दू-मुसलमान दोनों को उन्होंने फटकारा। पशु-बलि के स्थान पर नारियल-अर्पण की प्रथा वैष्णव प्रभाव की परिचायक है।

नम्रता–

वैष्णव-संस्कृति ने नम्रता का परिवेश उत्पन्न किया। तुलसी तथा अन्य वैष्णव इसी कारण अपने को अतिशय क्षुद्र बताते हैं। दास्य-भक्ति का तो यह प्राण है। अध्ययन को अहंकार का मूल मान कर ही कबीर ने उसका भी तिरस्कार किया[3]। गाड़ी भर या ऊंट के बोझ जितनी पुस्तकों तथा प्रत्येक स्वांस में वेदाध्ययन करते रहने को अहंकार का झगड़ा मान कर नानक ने भी उससे दूर रहने की मन्त्रणा दी है[4]।

परोपकार–

वैष्णव-धर्म ने अहिंसा को ही प्रमुखता नहीं दी, उसकी

---

1 व्यास जाति तजि भक्ति कर कहत भागवत टेरि।
जातिहिं भक्तिहिं ना बनै ज्यों केरा ढिग बेरि॥
"व्यास-वाणी", साखी—२०

2 वही, पृ०—५२

3 'पढ़े गुने उपजे अहंकारा, अधघर डूबे वार न पारा।
"कबीर ग्रंथावली'—१३०

4 "आसा जी की वार"—पृ० ५६

करुणा तथा मैत्री-भावना ने 'वसुदैव-कुटुंबकम्' के आदर्श को जन्म दिया। 'मानस' में 'परहित सरि धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई', कह कर उसी ओर संकेत किया गया है। 'विनय-पत्रिका' में भी तुलसी मानव-जीवन का लक्ष्य ही परोपकार मानते हैं—"काज कहा नरतनु धरि सार्यो।

पर-उपकार सार श्रुति को जो सो धोखेहु न बिचार्यो॥"२०२

वस्तुतः यह सन्त के जीवन का अंग, उसकी चर्या का अवयव बन जाता है। वह उसका जीवन-आदर्श है। 'विनय-पत्रिका' में उस आदर्श-जीवन की कामना है—

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा ते संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित् निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता,दुख सुख समबुद्धि सहोंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥१७२

शरणागति—

पुष्टिमार्ग में 'प्रपत्ति' या अनन्य भक्ति के लिये वल्लभाचार्य जी ने शरणागति को आवश्यक बताया। 'मामेकं शरणं व्रज' कह कर 'गीता' में कृष्ण ने इसी की ओर संकेत किया है। निर्गुण, सगुण सभी भक्तों ने शरणागति को महत्व दिया। शरणागति के भी छः प्रकार माने गये—आनुकूलस्य संकल्पः (भगवान के अनुकूल बने रहने का संकल्प) २—प्रतिकूलस्य वर्जनं (भगवान के प्रतिकूल भावादि से अपने को रोकना); ३—शिष्यतीति विश्वासः (भगवान रक्षा करेंगे, यह विश्वास), ४—गोप्तृत्व-वरणम् (भगवान का रक्षक रूप में वरण), ५—आत्म-निक्षेपः (समर्पण) 'तथा ६—कार्पण्य (दैन्य)।

इसी शरणागति ने कबीर में ऐसा विश्वास उत्पन्न किया कि

वे 'दीन दयाल भरोसो मेरे। सब परिवार चढ़ाया बेड़े" कहते निश्चिन्त हो रहे (कबीर ग्रंथावली, पृ०—१२७)। नानक के अनुसार निरासक्त भक्त भगवान से शरण की याचना करता है। उनके प्रण का स्मरण दिलाता, आश्रय में लेने का अनुनय करता है। उसे मुक्ति की आकांक्षा जो है[1]। 'भरोसो इन चरननि केरो' की उक्ति से सूर ने भीउसी आश्रयदाता की कृपा का संकेत किया है।

तदतिरिक्त गुरूभक्ति, अवतारवाद पर आस्था, आस्तिकता आदि भी वैष्णव-धर्म की देन हैं। इन सभी की हिन्दी-साहित्य में अभिव्यक्ति हुई है। यह परम्परा आधुनिक काल में स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त जी तक चलती रही। 'साकेत' और 'कृष्णायन' इसी वैष्णव-संस्कृति की देन हैं।

[३८७, टपाल चाल, खण्डवा (म० प्र०)]

---

१ छंतु, दीनदयाल सुणि बेनती हरि, प्रभु हरि राइआ राम राजे।
हउ मागउ सरणि हरि नाम की हरि हरि मुखि पाइया।
भगति वछलु हरि त्रिरदु हे हरि लाज रखाइया।
जनु नानक सरणागति हरिनाम तराइया॥

"आसा जी की वार", पृ०—२४

गीत

—केदार नाथ 'कोमल'

लिखता था कभी
जीवन के गीत
अब जीवन कहां मिलता है
सिर्फ़ उसकी तलाश जारी है !
उमंगों के बीमार—बालक को
मिलावटी दवा के सिवा
क्या दे सकते हैं
फिर भी वह खुश है कि
मरने की तैयारी है !

लिखता था कभी
सावन के गीत अब केवल
सावन के नाम की सुगंध
बाकी है !
हर प्यार से प्यार के रेगिस्तान की
गंध आती है !

लिखता था कभी
वसंत के गीत
अब वसंत के नाम से

भय आता है
कहीं पतझड़ भी न
हाथ से निकल जाए
इसलिए मुसकाता हूं !

[ई—९७, सरोजिनी नगर, नयी दिल्ली—११००२३]

- कभी-कभी ऊपर चढ़कर हमें ऐसी बातें खटकती हैं, जिन्हें हम नीचे नहीं सोचते।
- हम बहुत कम जानते हैं, लेकिन वह हमेशा काफ़ी होता है।

—निर्मल वर्मा

भ्रम

—आदर्श 'पीयूष'

सोचता हूँ
हर आहट पर
द्वार को—
आशा भरी दृष्टि से निहारना
मेरी भूल थी
अन्यथा—
आहट के स्वरों पर से
मेरा विश्वास
कभी नहीं उठता ! !

मन की—
कोमल
अमूल्य भावनाओं से भरा
मेरा अपार कोष
बीच चौराहे पर
अपमानित हो
कभी नहीं लुटता !
अपने—
कैक्टस के
पौधे के

कांटो पर लगे
फूलों से
सुगन्धि की आशा
केवल मेरा—
भोलापन था !
कांटों ने
फूल दिये थे
यही क्या कम था ?

[द्वारा, प्रो० विज़य प्रकाश, आदर्श नगर, उधमपुर]

● आदमी दूसरों को सुरक्षा देकर अपने को अधिक सुरक्षित कर लेता है।

● जगने से पहले आदमी मुक्त होता है फिर विभक्त हो जाता है।

—गिरिराज किशोर

लोक-मंच

डोगरी लोक गीतों में पर्व-त्योहार

—सत्यपाल शास्त्री

किसी भी देश के पर्व-त्योहार वहां के सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के प्रतिबिम्ब हुग्रा करते हैं। ये एक ग्रोर हमारी धार्मिक ग्रास्था के सजग प्रहरी हैं तो दूसरी ग्रोर हमारे सामाजिक जीवन की विभिन्न रुचिग्रों के संरक्षक भी। कोई देश ग्रपने सामाजिक जीवन के प्रति कितना जागरूक है तथा वह ग्रपनी दैनंदिन व्यस्तताग्रों के बावजूद ग्रपनी सांस्कृतिक तथा सामाजिक परम्पराग्रों को निभाने में कितनी रुचि लेता है? इस बात के साक्षी होने में उस देश के पर्व-त्योहारों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

प्रत्येक पर्व या त्योहार का ग्रपना निजी ग्रस्तित्व, इतिहास तथा परम्परा हुग्रा करती है। प्रत्येक पर्व तथा त्योहार ग्रपने में एक भव्य स्मारक है। संक्षेप में ये पर्व-त्योहार हमारी ग्रमूल्य थाती हैं।

डुग्गर के पर्व-त्योहार भारत के ग्रन्य पर्वों का ही ग्रक्षुण्ण ग्रंग होते हुए भी ग्रपनी स्थानीय तथा निजी विशेषताग्रों के कारण ग्रपने में मौलिक हैं। इनके परम्परित इतिहास को ग्रमर-ग्रक्षुण्ण रखने में यहां के लोक साहित्य की विस्मयावह भूमिका है। यहां के लोक गीतों में तो डुग्गर के पर्व-त्योहारों का स्वरूप बड़ी

खूबी से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार के लोक गीत इन पर्व-त्योहारों के एक प्रकार से अभिन्न अङ्ग बन चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो ये पर्व-त्योहार इन गीतों के बिना सर्वथा अपूर्ण हैं। कोई भी पर्व या त्योहार इन गीतों के बिना नीरस प्रतीत होता है। इसके विपरीत इन से वातावरण में एक विचित्र मस्ती, रस तथा अलौकिक आनन्द आ जाता है। कितने कविहृदय रहे होंगे डुग्गर की सांस्कृतिक परम्परा की धारा को समृद्ध करने वाले हमारे पूर्वज ! इस तथ्य का अनुमान पर्व-त्योहार सम्बन्धी लोक गीतों से लगाया जा सकता है।

इन लोक गीतों के माध्यम से हमें डुग्गर के जन - जीवन की अपने पर्व विशेषों के प्रति विभिन्न आस्थाओं, भावनाओं तथा विचारों का परिचय मिलता है। किसी पर्व विशेष के प्रति बालक, युवक, वृद्ध, युवती, वृद्धा, सधवा तथा विधवा आदि भिन्न - भिन्न निष्ठा रखते हैं।

डुग्गर देश में वर्ष के बारह महीनों में से कईओं को पर्व के रूप में माना है। यह बात भी इन गीतों से स्पष्ट होती है। इसी प्रकार छः ऋतुओं को भी यहां पर्व तथा त्योहार के रूप में ही माना है। वर्ष के बारह महीनों में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों के कारण मनुष्य की मानसिक अवस्था पर होने वाली प्रतिक्रिया का चित्रण 'नारद मोह' में बड़े विचित्र ढंग से किया गया है। इस प्रकार के गीतों में किसी विरहिणी की मनोदशा वियोगिनी राधा की मनो-दशा के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। राधा वृन्दावन में कृष्ण के वियोग में तड़पती है। चैत्र महीना आते आते वह कृष्ण की प्रतीक्षा में श्रान्त सी हो जाती है। यह महीना ज्यों ही बसन्त ऋतु का सन्देश लेकर आता है त्यों ही उसका मन कृष्ण को गले के साथ लगाने के लिए तड़प उठता है। उसे कोई भी वस्तु रुचिकर नहीं लगती है इसलिए वह खीझकर विष तक खाने की सोचनेल गती है। कोई उसे सन्देश वाहक भी नहीं मिलता है जिसे भेजकर वह अपनी दुरवस्था का समाचार कृष्ण तक पहुंचा सके—

चैत्र चित्त विच लगीए चिन्ता,
किसनूं हाल सुनावां में ?

मोहन बैठे विच मथरा दे,
किसनूं गले लगावां में ?
हार शिगार चंगे नेईं लगदे
विष खाके मर जावां में।
किसदे हत्थ सन्हेड़ा अपना,
मोहन कोल पजावां मैं ?

आमों पर बौर आने का सन्देश भी तो चैत्र ही लेकर आता है—

"चैतर म्हीने अम्ब खौरे
टाहली कन्नै गुत्थ होए।"

चैत्र महीने की चौदस भी एक पर्व के रूप में ही मनाई जाती है। इस दिन डुग्गर प्रदेश में विभिन्न स्थानों—विशेषत: जहां नदी तट पर शिव मन्दिर हो, यह पर्व मनाया जाता है। इस दिन ऐसे स्थानों पर भारी मेले लगते हैं जिनमें लोगों का आनन्द तथा उल्लास देखने योग्य होता है पुरमण्डल में चैत्र चौदस (चतुर्दशी) का मेला बड़ा प्रसिद्ध है।

चत्र चतुर्दशी के तीसरे दिन नवरात्रों का आरम्भ होता है। इस दिन लोग अपने घरों में खेतरी[1] बीजते हैं तथा नवरात्रों में प्राय: घर घर शक्ति पूजा, हवन, कीर्तन आदि होता रहता है[2]। वस्तुत: ये नवरात्र शक्तिपूजन तथा शक्ति आराधन के ही प्रतीक माने जाते हैं। डुग्गर प्रदेश में शिव पूजा के समान शक्ति पूजा का भी महत्व है। श्री ज्वाला भगवती (हिमाचल प्रदेश) के पवित्र स्थान से लेकर—श्री वैष्णवी भगवती की पवित्र गुफा, कटड़ा, (जम्मू) तक यत्र-तत्र-अनेकत्र भगवती जगदम्बा अनेक रूपों में प्रतिष्ठित, पूजित तथा आराधित होती है।

नवरात्रों में प्रातःकाल ही बालिकाएं विभिन्न झुण्डों में

---

1 रेत में जव रोपना। 2 शक्ति पूजन प्राय: सनातन धर्मी हिन्दु ही अधिकतर करते हैं।

स्नान के लिए जाती हुई मधुर स्वरों में विविध गीत गाती सुनाई पड़ती हैं जिन में यह विशेष रूप से वर्णनीय है—

"पहली आरती दूजी सेवा, हरे नरैणा गोविन्दा ।
में पूजां तेरी जंडा (मूर्ती), में पूजां मनके लड़ियां ।।
× × ×
जै मेरी देवां कटड़ै सिहासन, राजे रामचन्द्र दी जै ।"

निस्सन्देह इस प्रकार के मधुर तथा भक्ति भावना से भरे हुए गीत श्रोताओं की कर्ण शष्कुलिआं भर कर विचित्र आनन्द का संचार करते हैं। नवरात्र नहाने के समय गाया जाने वाला गीत भी देखिए—

"पहला नराता गंगा न्हाता,
गंगा भठोरू आए ।
चुग्गो कुड़े चिड़ियो-मिड़ियो,
असैं नराते तुसैं चुगाए ।"

नवरात्रों के बाद दुर्गाष्टमी तथा रामनवमी को भगवती जगदम्बा तथा श्री रामचन्द्र जी के मन्दिरों के आगे विशेष भीड़ एवं जमघट होता है तथा भारी मेले लगते हैं ।

बैशाख महीने की संक्रान्ति का भी अपना महत्व है। यह पर्व लोगों में विशेष उत्साह तथा आनन्द का संदेश लेकर आता है। कहीं नृत्य कहीं संगीत तथा कहीं भांगड़ा नृत्य बड़ा ही मनोहारी दृश्य उपस्थित करते हैं। वस्तुतः बैशाख का महीना वसन्त ऋतु के यौवन काल का महीना होने के कारण ही सर्वप्रिय है। इसीलिए इस महीने में लोगों में विशेष उल्लास होता है। परन्तु यह होते हुए भी अविवाहित युवती बालिका पर उसकी मां का नियन्त्रण रहता है जैसा कि इस गीत से स्पष्ट है—

"चढ़दै बसाख आई बसाखी,
लोकें भांगड़े मारे ओए ।
लोकें भांगड़े मारे ओए ।

मा ध्यू गी मत्तां दिन्दी
समझ धीए बदकारे ओए।
समझ धीए बदकारे ओए।"

परन्तु विरही-ललना - समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली राधा की अवस्था वैशाख आने से पहले से भी अधिक दयनीय हो जाती है—

"चढ़दे बसाख अम्बदी डाली
कोयल कूकां लांदी ए।
मुरली दी तान सुरीली,
अज्ज जाद पेई आऊंदी ए।
बिन्दरावन दी कुंज श्याम जी,
सानूं पेई डरान्दी ए।"

वैशाख में ही ईद-ए-मिलाद तथा बुद्ध जयन्ती के त्योहार भी मनाए जाते हैं ज्येष्ठ महीने में तथा कभी कभी आषाढ़ में निर्जला एकादशी, शुद्ध महादेव की पूर्णमासी, व्यास पूर्णिमा तथा श्री गुरु हरगोबिन्द सिंह का पर्व दिन मनाया जाता है। निर्जला एकादशी तथा उक्त गुरु पर्व पर धार्मिक लोग लोगों को ठण्डे शर्बत पिलाते हैं। शुद्धमहादेव की पूर्णिमा को असंख्य लोग शुद्धमहादेव[1] में जाकर भगवान् शंकर के दर्शन करते हैं तथा वहां का मेला देखते हैं। इस पवित्र स्थान का महत्व भी डुग्गर में श्री ज्वाला जी, श्री वैष्णवी देवी तथा श्री बैजनाथ आदि के समान ही महत्वपूर्ण है। आस्थावान् भक्त अनेक कष्ट सहकर इस स्थान पर पहुँचते हैं। जैसा कि इस गीत से स्पष्ट है—

"चल अड़िये ओ मड़िये,
सुद्धि मेले गी चलचै।
आई ऐ हाड़ै दी पुन्नेयां,
चल ज्यानिये, ओ मड़िये,
सुद्धि डूंगे नालैं सुनचै

---

1 जम्मू से लगभग ५० मील उत्तर की ओर।

जान होई गेई मान्दी,
ढक्क कियां चढ़चै ?"

आषाढ़ महीने की संक्रांति धर्म-दिन के रूप में मनाई जाती है। इस पर्व पर आस्थावान् लोग अपने पितरों के नाम से पानी से भरे घट दान करते हैं तथा पैसे वाले लोग प्याऊ लगवाते हैं। उधर विरहि नारी, राधा के मुख से, अपनी विरह-वेदना की अभिव्यक्ति यूं करती है—

जेठ म्हीने धुप्प कड़कदी,
सूरज अग्ग बरसांदा ए।
विरहों दी अग्ग जलावे,
दिल मेरा घबरान्दा ए।

× × ×

हाड़ म्हीने भक्खड़ झुल्लै,
बाग पपीहा बोले जी।
चञ्चल चित्त किदरे नईं लगदा।
उड़दा बांग बगोले जी।

आषाढ़ महीने में ही डुग्गर में स्थान स्थान पर छिञ्जें (कुश्तियां) होती हैं। इस में लोगों की भीड़ भाड़ तथा आनन्द मिश्रित उत्साह देखने योग्य होता है। कहीं कहीं पर दिन में कुश्ती और रात को मेला (चाल) होता है। यदि वैशाख में भांगड़ा लोगों में नई रंगीनी भरता है तो छिञ्ज का मेला उस रंगीनी को जीवित रखने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है। इस गीत में इसकी झलक देखिए—

"हाड़ म्हीने छिञ्ज बज्जै,
छिञ्ज बज्जै भाई होए।"
बारां बज्जे घोल लग्गा,
नाईए दुन्द पाई ओए।"

आषाढ़ की संक्रान्ति को ही बहन-भाई के पवित्र स्नेह के

प्रतीक राड़े[1] स्थापित किए जाते हैं। इन्हें बहनें इक्कट्ठी होकर महीनाभर प्रत्येक रविवार को विविध रंगों से चित्रित करती हैं तथा इनके पास बैठ कर गीत गाती हैं और हास्य विनोद करती हुई प्रीति भोज करता हैं।

श्रावण की संक्रान्ति को महिलाएं कानों में मिञ्जरें पहनती हैं अतः इस संक्रान्ति को मिञ्जरों के त्योहार के रूप में माना जाता है।

श्रावण महीना वस्तुतः प्रकृति में नया उल्लास भर देने वाला महीना है। किसान के लिए तो यह ईश्वर–दूत ही है। यह सारा महीना ही अपने में एक पर्व है, एक त्योहार है। पतियुक्त के लिए यह वरदान है तो विरहिणी के लिए अभिशाप। देखिए इस लोक गीत में एक विरहिणी की मनो-दशा का मार्मिक चित्रण—

"सैलियां-सैलियां धारां ओ पौन फुहारां,
मेरा रेश्मी चीरा सिज्जेया
चीरेगी धोन्नीआं छम-छम रोनीआं,
सज्जन परदेसेंगी टोरेया।"

क्योंकि डुग्गर देश के अधिकतर लोग सैनिक जीवन ही व्यतीत करते हैं अतः स्वाभाविक है कि उनकी पत्नियां अपने जीवन का अधिकतर समय विरह-व्यथा की घुटन में ही व्यतीत करती हैं। इधर श्रावण महीना मानवीय मानसिक वृत्तिओं में विशेष उल्लास और उत्तेजना भरने वाला होता है अतः इस महीने में किसी भी विरहिणी के हृदय में विरह-व्यथा की वेदना का होना स्वाभाविक है। इसी लिए इस महीने को लेकर लोक-साहित्य में अनेक विरह गीतों का सृजन हो पाया है।

इसी महीने में रक्षाबन्धन का त्योहार अपने विविध रूपों में आता है[2]। इसी महीने में चन्दन-षष्ठी, जन्माष्टमी, गोवत्स-द्वादशी, नागपञ्चमी, हरितालिका तृतीया, कुशोत्पाटिनी अमावस्या

---

1 घड़े के मुख वाला भाग।
2 श्री अमर नाथ-यात्रा, श्रावणी और रक्षाबन्धन

(मौनी अमावस्या) अनन्त चतुर्दशी, पितृपक्ष (श्राद्ध) आदि त्योहार आते हैं, जिनका वर्णन करना यहां न ही लोक गीतों के उदाहरण देकर सम्भव है तथा न ही इन त्योहारों मात्र का संक्षिप्त वर्णन करने से भी सम्भव है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इन सब का अपना अपना विशेष महत्व है।

प्राय: श्रावण में ही शब-ई-मिराज का त्योहार भी आता है जिसे मुसलमान बन्धु बड़े उत्साह से मन ते हैं।

आश्विन के नवरात्र भी चैत्र के नवरात्रों के समान संगीत का मधुर स्वर लेकर आते हैं। एक बार फिर कानों में यह सुरीली ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है—

"सिमरो वैष्णों सूहे चोले वाली,
ए जी, सूहे चोले वाली।"

इन्हीं नवरात्रों में स्थान-स्थान पर अन्याय तथा अत्याचार पर विजय की प्रतीक राम लीला खेली जाती है। दशहरे को रावण कुम्भकर्ण तथा मेघनाद के पुतले जलाए जाते हैं और इन स्थानों पर विशेष मेले लगते हैं। करक चतुर्थी या करवा चौथ का त्योहार मुख्यत: स्त्रियों का त्योहार है जो पत्नी के पति के प्रति प्यार का प्रतीक माना जाता है।

कार्तिक महीने में दीपावली का त्योहार प्रकाश तथा समृद्धि का परिचायक माना जाता है। परन्तु विरहिणी के लिए यह त्योहार भी किसी काम का नहीं। उसके लिए इसमें भी अन्धेरा ही है—

"कत्तै ले म्हीनै माए आई देयाली,
तुस रेह् परदेस असें भुल्ल नि मनाई।"

दीपावली के दूसरे दिन अन्नकूट, नवीन अन्न भक्षण, का मुहूर्त तथा उससे दूसरे दिन बहन-भाई के पवित्र स्नेह का प्रतीक भैया-दूज का त्योहार आता है। इसी महीने शब-ई-कदिर तथा जमात-उल-विदा के त्योहार भी मनाए जाते हैं। मार्गशीर्ष में हमारे

इतिहास की विचित्र विभूति श्री गुरू नानकदेव जी का जन्म पर्व भी मनाया जाता है।

पौष महीने में लोहड़ी का त्योहार अग्नि पूजा का प्रतीक है। इस दिन लोग सामूहिक रूप से अग्नि पूजन करते हैं। लोहड़ी से कई दिन पहले लड़कों की टोलियां—

"बञ्झली पेई बञ्झली,
बञ्झली छाटां लम्मिग्रां।
बरैह् तां कनकां लम्मियां।"

इत्यादि गाती हुई सुनाई पड़ती हैं तो उधर लड़कियों का श्रुति मधुर स्वर इस रूप में मुखरित होता हुआ सुनाई पड़ता है—

"ग्रां कुड़े तरचौलिए,
ग्रां गीगा मौलिए।
ग्रां गुड़े दियां रोड़ियां,
ग्रां भन्न मरोड़ियां।"

पौष में ही सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री गुरू गोविन्द सिंह का जन्मपर्व भी बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

ग्रब ग्राती है होली जो ग्रपने रंगों के साथ ही मानव जीवन के लिए नया उत्साह तथा नई उमङ्ग लेकर ग्राती है। बालक, वृद्ध जवान सभी में नयी रंगीनी ग्रा जाती है तथा छोटे बड़े का ग्रौर स्त्री पुरुष का भेद मिट सा जाता है तथा उनकी दूरी नष्ट हो जाती है। क्या ही ग्रानन्दभरी उमङ्ग होती है इस त्योहार में भी। कोई झूम रहा है, कोई हंस रहा है तो कोई गा रहा है। क्या ही ग्रनोखी छटा है होली की भी। कहते हैं कि होली तो श्री कृष्ण ने भी ग्रपनी गोप-गोपिकाग्रों के साथ खेली थी जैसे कि इस लोक गीत से स्पष्ट है—

"होली खेडो रे द्वारका वाले।
गौग्रां बी कलपन, बछड़े बी कलपन,
कलपन बाल गोग्राले,
होली खेडो रे द्वारका वाले।"

परन्तु विरहिणी को होली का त्योहार भी रुचिकर नहीं है—

"फग्गन म्हीनै माए होली जे आई ।
तुस रेह् परदेस असें बिन रंग गुआई"

शिवरात्रि के पर्व पर भी डुग्गर प्रदेश में शिव मन्दिरों के पास मेले लगते हैं, धार्मिक लोग व्रत करते हैं तथा व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से शिवपूजन करते हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि डुग्गर प्रदेश के पर्व-त्योहारों में वहां का जन-जीवन रचा-पचा हुआ है । ये पर्व-त्योहार जहां डोगरों की सांस्कृतिक परम्पराओं के वाहक हैं वहां उनकी निजी मानसिक चेष्टाओं की समय-समय पर अभिव्यक्ति के माध्यम भी हैं ।

[राजकीय महाविद्यालय, कठूआ]

एक डोगरी लोक-कथा

ऐसे को तैसा

बसन्त की मीठी बहार में रात के दस बजे होंगे जब गांव की उस झौंपड़ी के आंगन में बूढ़ी दादी की खटिया जमी थी। उसी के आस पास कुछ बच्चों की छोटी छोटी चारपाइयां थीं, जिन पर वे लेटे चह-चहा रहे थे बूढ़ी दादी पुराने मैले गूदड़ के बिस्तर पर बैठी बैठी हुक्का दम-दमा रही थी। उसकी आदत थी कि रात को सोते समय एक चिलम भर कर तमाल पत्र का सेवन कर लेती थी। पुराने बुजुर्गों की कुछ ऐसी ही विचित्र आदतें होती थीं। बुढ़िया हुक्का गुड़गुड़ा रही थी। आसमान पर अमावस के तारे इस तरह चमक रहे थे, जैसे काली चादर पर सफेद जरी। बालक बुढ़िया के पोते और पोतियां थे, जो संख्या में चार थे। एक एक खटिया पर दो दो बालक चिड़ियों की भांति फुदक कर चहचहा रहे थे। लड़ झगड़ रहे थे और साथ साथ सुलाह भी, कच्ची पक्की भी। तोतली भाषा की चुहल एक दूसरे पर कोमल डांट डपटें......। "अरे, तनिक आराम भी किया करो दिन भर खट खट ...और रात को भी चैन नहीं लेने देते" तुनक कर उन पर बरस पड़ी बुढ़िया। चह-चहाहट रात के अन्धकार में खो गई। एक ने कहा—'दादी कत्थ सुना', 'सुनाऊंगी तो इस शर्त पर कि सुन कर सो जाओ'। 'हां सो जायेंगे', सब बालक खिलखिला उठे। दादी ने कत्थ कहनी शुरू कर दी।

दो आदमी थे, एक था सुनार और दूसरा अहीर। दोनों की

काफी मित्रता थी। जब अहीर की लड़की का विवाह जुड़ा तो सुनार ने कहा, भाई, गहने मैं गढ़ूंगा। मेरे रहते किसी को कहने की आवश्यकता नहीं। अहीर ने कहा,—यह भी कोई कहने की बात है ? सोने के आभूषण बन कर आगए। ऊपर से तो चम-चमाते किन्तु भीतर से नकली धातु लिए हुए। गून्ज अहीर को बड़ा कष्ट हुआ। किन्तु उसने उसका उत्तर समय आने पर प्रतिक्रिया के रूप में ही देने का निश्चय किया। प्रत्यक्ष में वह वैसी ही साधुता दिखाता रहा। जब सुनार की कन्या का विवाह हुआ तो अहीर ने कहा,— 'भाई माखन और घी के लिए कहीं न जाएं यह आवश्यकता मैं पूर्ण करूंगा'। 'बस मुझे और क्या चाहिए। यही तो मैं भी सोच रहा था' सुनार ने कहा। बात पक्की हो गई। समय पर अहीर के घर से घी के भरे हुए छः मटके आ पहुंचे। एक एक को जब देखा गया तो पता चला कि मटकों के मुख-भाग घी से लिपे हुए हैं, बीच में गोबर भरा पड़ा है। सुनार समझ गया कि यह उसकी पूर्वकृत चलाकी का ही प्रतिक्रिया के रूप में उत्तर था। बात यहीं समाप्त हो गई। बाद में किसी ने एक दूसरे के गोल माल पर बात नहीं की, मित्रता पूर्ववत् चलती रही।

एक दिन सुनार ने आकर अहीर को लचकीली खबर दी,— "सुनो मित्र, यहीं पास के जंगल में धन के बर्तन गड़े हुए हैं अगर चुपके से धरती खोद कर उन्हें बटोर लें तो माला-माल हो जायेंगे न मुझे सुनारगी करनी पड़ेगी न तुम्हें गाय बछड़ों की सेवा और गोबर की क्रीड़ा।" "ऐसा किसने कहा तुम से ?" "एक महायोगी ने" ऐसा तो नहीं कि "खोदा पहाड़ निकली चुहिया" "योगी बड़ा चमत्कारी है। इसके अलावा उसने कुछ सुराग भी प्राप्त किए हैं। जरूर वहां धन होगा चलो चलें।" सुनार ने अहीर की भुजा भींच कर कहा।

दोनों सायं-काल उस ओर चल दिए। बीहड़ जंगल में पहुंचे, जहां रात का सन्नाटा भी साथ-साथ जा पहुंचा। एक ने कुदाली और दूसरे ने फावड़ा पकड़ लिया। लगे धरती को कुरेदने। देर तक खोदकर जब इस महाभारत से थक चले तो तो कुछ आराम करना चाहा। आसमान पर तारे चमक रहे थे। दूर उस जंगल के अन्तिम छोर पर एक दीपक भी मुस्कुरा रहा था, जिससे जान पड़ता था कि

उस असीम सुनसान समुद्र के उस पार कोई झोंपड़ी है जिसमें कोई परिवार भी रहता होगा।

रात आधी हो चली थी जंगल में मृग और सियार भयंकर बोली बोलने लगे। दोनों ने अपना कार्य फिर शुरू कर दिया। थोड़ी देर बाद फावड़े के साथ किसी लौह वस्तु की टक्कर हुई ठन-ठन .. "अरे हम लक्ष्य तक पहुंच गए।" उछल कर सुनार ने कहा। "अभी क्या है? अपना काम करते चलो।" धरती पर कुदाली चलाते हुए अहीर ने कहा। कुदाली के कई एक प्रहार और पड़े होंगे कि अचानक एक पीतल का बर्तन उछल कर गीली सोंधी मिट्टी की छाती पर तैरने लगा। उसे उठा कर एक ओर धर दिया गया, इसी प्रकार एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा—लगातार छः बड़े पीतल के धन-पूर्ण बर्तन वहां इकट्ठे हो गए। उन दोनों को सीमातीत हर्ष हुआ किन्तु अनहोना माल मिल जाने पर भी तृष्णा नहीं मिट पाती, पेट भले ही भर जाए किन्तु आंखें भूखी की भूखी ही रहती हैं। इसी प्रकार उनका खोदना बन्द नहीं हुआ। प्रातः-काल हो आया उषा काल की सुनहरी धूप पर्वतों के शिखरों पर नाचने लगी। दोनों थक चुके थे। अपना काम वहीं रोक कर, जो प्राप्त हुआ था उसी को समेट कर अब घर चलना चाहते थे। दोनों के पास अपनी अपनी घोड़ी थी। तीन-तीन बर्तन एक-एक पर लाद कर वे दोनों जंगल के मार्ग से लाखों की दौलत साथ बांधे, घर को चल दिये।

किन्तु पुराने दांव-पेच अभी भी उन के हृदय में समाये थे। एक दूसरे को चकमा देकर पूरी धन-दौलत लेकर भागने का विचार दोनों में अपने ढंग से पनप रहा था। पहल तो अहीर ने ही की। आधे रास्ते पर सुनार से कहा,—"यहीं कुछ देर बैठ लेते हैं। पास ही तालाब है। शौच-स्नान भी हो जायगा।" "जैसी तुम्हारी इच्छा" कह कर अहीर वहीं ठहर गया। विचार तय हुआ एक आदमी शौच के लिए जाए और एक धन की रखवाली करे। उसके बाद दूसरा जाए, पहला आए। जब सर्वप्रथम सुनार गया तो पीछे से मौका पाकर अहीर ने दोनों घोड़ियों को हांक कर जंगल का रास्ता लिया। जब सुनार ने आकर देखा कि अहीर चंपत, तो वह समझ गया कि

खोटे हृदय का आदमी फिर धोखा दे गया। किन्तु अब क्या हो सकता था।

इधर अहीर घोड़ियों को हांकता हुआ उस जंगल के पार जा कर एक राह पर हो लिया। सुनार भागता हुआ उसी मार्ग की ओर बढ़ा। उसने दूर जाते हुए अहीर को देख लिया। किन्तु लड़ाई झगड़े और पकड़ धकड़ से काम नहीं बन सकता था। सुनार के पैरों में नया ज़रीदार जूता था। उसने एक ओर का चक्कर काट कर उस मार्ग को प्राप्त कर लिया, जिससे अहीर पीछे की ओर पड़ गया। एक जूता वहीं फ़ेंक और एक पन्द्रह बीस कदम आगे डाल कर सुनार किसी झाड़ी में जा छिपा। इधर अहीर भी घोड़ियों के साथ उसी स्थान पर आ पहुँचा जहां एक जूता पड़ा था। उसने उठा कर देखा और सोचा, जूता तो बड़ा सुन्दर तथा कीमती है, किन्तु है एक, जोड़ी होती तो अच्छा था एक को लेकर क्या करूंगा। यह सोच कर उसने जूता वहीं फेंक दिया और अपनी राह ली। कुछ कदम दूर जाकर उसे वैसा ही एक अन्य जूता पड़ा मिला। जब वह उसे उठा कर पिछला लेने वापिस मुड़ा तो बीच में आकर सुनार घोड़ियां हांक कर खड्ड के किसी कोने में घोड़ियों के साथ जा छिपा, जहां काफी घने पेड़ तथा लताओं के झुरमुट थे। वहां बर्तन उतार कर एक स्थान पर रखे और घोड़ियों को पास चरने खुला छोड़ दिया।

इधर अहीर ढूंढता ढूंढता उसी खड्ड में आ पहुँचा। उसने रेत में घोड़ियों के पैरों के निशान देखे और उनकी सीध पर चलता चला गया। दूर झाड़ियों में छिपे सुनार तथा पास चरती घोड़ियों को उसने देख लिया किन्तु वह सुनार को रंगे हाथों पकड़ना नहीं चाहता था जैसी कि उनकी पीछे की परम्परा रही थी।

अहीर ने चारों ओर से आग लगा दी। आग की लपटों से जब सुनार झुलसने लगा तो उसने स्वयं बाहर आकर अहीर से क्षमा मांगी। एक बार पुन: दोनों मित्र साथ मिल गए। घोड़ियों पर लदी दौलत सुनार ने आग की लपटों से निकाल ली थी। दोनों ने जंगल के बाहर आकर सम्पत्ति का उचित बटवारा किया।

—डॉ० गंगादत्त 'विनोद'
[केसरी कुटीर, मोहल्ला पहाड़ियां, जम्मू]
[अकादमी प्रकाशन—'डोगरी लोक कथाएं' से साभार]

आप की बात

सितम्बर अंक : कुछ प्रतिक्रियाएं

● अपने सम्पादकीय में आपने साहित्य में यौन-चित्रण को मर्यादा के भीतर ही रखने को कह कर सही काम कियां है। मैं आप का समर्थन करता हूं।
'राष्ट्रीय एकीकरण में लेखकों का दायित्व,' 'एक शीर्षक विहीन स्थिति' और 'स्टिल लाइफ' अच्छी लगीं।

—विष्णुकान्त शास्त्री,
२८०, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता—६

● शीराज़ा प्रकाशन के गत इतिहास में प्रस्तुत संस्करण की अपनी अलग विशेषता है। सामग्री का चयन सूझ-बूझ तथा कुशल हाथों द्वारा किया गया है। रूप-सज्जा तथा प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया अत्यंत आकर्षक है। प्रथम प्रयास की सफलता पर आपको सहर्ष बधाई भेज रहा हूँ।

डॉ० गंगा दत्त विनोद,
केसरी कुटीर, मोहल्ला पहाड़ियां, जम्मू।

● यह अंक पिछले अंकों की परम्परा से हट कर है, निबन्ध, कहानियां और कविताएं सभी रोचक लगीं। एक सुझाव है—एक स्थायी स्तम्भ पिछले अंक की रचनाओं की संक्षिप्त आलोचना के लिए आरम्भ कीजिए।

—डॉ० अयूब प्रेमी
जे—६, जवाहिर नगर, श्रीनगर

● 'अपनी बात' के अतिरिक्त 'दीमक लगे स्पर्श' तथा 'एक शीर्षकविहीन स्थिति' विशेष रूप से पसन्द आईं। बधाई!

—केदारनाथ कोमल
ई—९७, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली—२३

● प्रादेशिक साहित्यकारों को उचित प्रतिनिधित्व देने का प्रयास आपने किया है। अपनी बात' में आपने एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रश्न उठाया है। वस्तुत: जिसे आपने अश्लीलता कहा है, वह असंतुलित मानस और सामाजिक दृष्टि से अवांछित यौनाचार की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। जैनेन्द्र से इसका आरम्भ मानकर डॉ० रामविलास शर्मा ने ऐसी उत्तेजक स्थितियों को 'साड़ी-जंपर उतार' स्थितियां कहा है। यशपाल और अज्ञेय से होती हुई यह प्रवृत्ति काफी व्यापक रूप से पनपी है। देवेश ठाकुर ने इसे 'बुद्धिजीवी सैक्स-चर्वण' कहा है। सैक्स का यह चित्रण ओढ़ा हुआ लगता है, यथार्थ का सहज अंश नहीं।

—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त, प्रताप गढ़, जम्मू

● "अश्लीलता का दौर ." आपका सम्पादकीय बहुत अच्छा लगा। आपके साहस की मैं दाद देता हूं।

—नारायण उपाध्याय; ब्राह्मणपुरी, खण्डवा (म० प्र०)

● सम्पादन, भाषा, सज्जा तथा सामग्री की दृष्टि से प्रस्तुत अंक में क्रांतिकारी नयापन आया है। यह अंक निश्चय ही संग्रहणीय है। प्रस्तुत अंक नयेपन, नये युग, नये ख़ून तथा नयी मान्यताओं का हर दृष्टि से प्रतिनिधित्व कर रहा है। लेखकों का पूरा पता भी प्रकाशित किया करें।

—शिव रैना (पत्रकार)
८७, रघुनाथ लेन, जम्मू

● कविताओं का स्तर पहले से अधिक उन्नत तथा रोचक लगा। सम्पादकीय में आपने साहित्यिक अश्लीलता के प्रस्तोताओं की अच्छी खबर ली है। मैं आपकी भावनाओं

का समर्थक हूं हालांकि मैं यह समझता हूं कि कभी - कभी किसी पात्र को यथार्थ के वास्तविक धरातल पर खड़ा करने के लिए अश्लीलता का पुट भी देना पड़ता है। परन्तु साहित्य को रोचक बनाने के लिए अश्लीलता का सहारा लेना निहायत ग़लत है।

—सुदर्शन पानीपती; १७५/२, पानीपत

● पहले से इसका रूप काफी निखरा है। गेट-अप, रंगीन छपाई सभी दृष्टियों से इसका आकर्षण बढ़ा है, जैसे अल्हड़ किशोरी को युवा सौन्दर्य मिला हो। सामग्री में विविधता और रोचकता पर्याप्त है। मेरा अभिनन्दन स्वीकारें।

—डॉ० शिवनन्दन कपूर
३८७, टपाल चाल, खण्डवा (म० प्र०)

● सितम्बर का अंक 'अपनी बात' को प्रमाणित करता है। पूरा संयोजन संपादक की सुरुचि की आभा से पूर्ण है। अश्लीलता के विरोध में जो आवाज़ आपने उठाई है वह समय की मांग है, आदर्शवाद नहीं।

—डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त
१४७, त्रिवेणी रोड़, इलाहाबाद—३

शीराज़ा (हिन्दी) के दिसम्बर अंक पर आपकी प्रतिक्रियाओं का स्वागत है।

—संपादक

डायरी के पृष्ठ

- अकादमी की ओर से जम्मू-कश्मीर के लेखकों को प्रोत्साहन देने तथा उनकी रचनाओं को प्रकाश में लाने के लिए 'शीराज़ा' तथा 'हमारा साहित्य' का प्रकाशन नियमित रूप से किया जाता है। इसके अतिरिक्त इन लेखकों की पुस्तकों को भी प्रकाश में लाने के लिए अकादमी की ओर से आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इसी योजना के अन्तर्गत १९७३ वर्ष में जिन हिन्दी पुस्तकों को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया है वे इस प्रकार हैं :—

(१) नौका का इतिहास—काव्य-संकलन—श्री एस० के० शर्मा
(२) बन्दी वैराग— काव्य-संकलन — श्री आदर्श पीयूष
(३) शिकायत— उपन्यास— श्री विजय कुमार खजूरिया
(४) गुरु-सिद्धांत पारिजात —श्री राम कृष्ण शास्त्री।

- पहली दिसम्बर से छः दिसम्बर १९७३ तक अकादमी के तत्वावधान में स्थानीय गांधी - भवन में एक प्रादेशिक कला-प्रदर्शनी का आयोजन किया गया जिसका उद्घाटन राज्य सरकार के शिक्षा विभाग के उपमंत्री श्री अब्दुल क्यूम ने किया। इस प्रदर्शनी में जम्मू-कश्मीर के सुप्रसिद्ध कलाकारों की कलाकृतियों के प्रदर्शन की समुचित व्यवस्था की गई थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जम्मू में ऐसी प्रदर्शनी का

आयोजन एक लम्बे अरसे के बाद अकादमी सचिव श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही सम्भव हो सका है।

- बच्चों में कला एवं संगीत के प्रति रुचि जागृत करने तथा रुचिसम्पन्न बच्चों के प्रोत्साहनार्थ अकादमी की ओर से दिसम्बर मास में दो प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया

 तत्काल (ऑन दि स्पॉट) संगीत प्रतियोगिता दस, ग्यारह तथा बारह दिसम्बर को स्थानीय गांधी-भवन में हुई जिसमें ८० बच्चों ने भाग लिया।

 इसी प्रकार तत्काल चित्रकला प्रतियोगिता, जो नौ तथा सोलह दिसम्बर को स्थानीय गांधी-भवन में आयोजित की गई, में २४० बच्चों ने भाग लिया और अपनी परिष्कृत रुचि का परिचय दिया।

- बाईस दिसम्बर १९७३ को सायं चार बजे अकादमी कार्यालय में, अकादमी सचिव, श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग के निमंत्रण पर जम्मू के प्रतिनिधि हिन्दी लेखकों की एक बैठक हुई, जिस में अकादमी की हिन्दी सम्बन्धी नीतियों पर खुल कर चर्चा की गई। अकादमी के प्रकाशनाधीन हिन्दी प्रकाशनों के प्रति सभी ने संतोष प्रकट किया तथा कुछ एक नये प्रकाशनों की रूप-रेखा सम्बन्धी सुझाव भी प्रस्तुत किए गए। इसके साथ ही भविष्य में अकादमी द्वारा हिन्दी साहित्य की प्रगति के लिए किए जाने वाले कार्यक्रमों की रूप-रेखा पर भी विचार किया गया। यह बैठक बड़े ही सौहार्दपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुई।

- तेईस और चौबीस दिसम्बर १९७३ को स्थानीय गुलाब भवन में, अकादमी के तत्वावधान में आयोजित एक नृत्य समारोह के उपलक्ष्य में दिल्ली की संस्था 'नाटच इन्स्टीच्यूट ऑव कोरियोग्रॉफी' की ओर से बैले तथा लोक नाचों का सुन्दर कार्य-क्रम प्रस्तुत किया गया। लोक नाचों के साथ-साथ तेईस

को "होइसाल वैभव' तथा चौबीस को "विज़न ग्रॉव ग्रमीर खुसरो" नामक बैले प्रस्तुत किए गए। इन कार्यक्रमों को देखने ग्राने वाले हमारे सम्मानित ग्रतिथियों में प्रमुख थे, जम्मू - कश्मीर के महामहिम राज्यपाल श्रीयुत लक्ष्मीकान्त झा।

'शीराज़ा' परिवार के लिए १९७४ का वर्ष
शुभ हो !